UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादकीय परामर्श मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक
प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 11 अङ्क 2

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, **2022**

सम्पादक :
प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Advisory Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Editor

Prof. Rajendra Prasad Sharma

Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 11 अङ्क 2

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

February, 2022

Editor :
Prof. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	
शोधलेख			
1.	वैदिक दर्शन में तीन शरीर तथा उसके कर्म की त्रिकाल में व्याप्ति का विज्ञान	आचार्य गुलाब कोठारी	1–5
2.	वैदिक वृष्टि सिद्धान्त की वैज्ञानिक दृष्टि	डॉ. विश्वावसु गौड़ एवं प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़	6–12
3.	ब्रह्मविद्या वेदान्त के अधिकारित्व प्राप्ति हेतु त्याज्य एवं करणीय कर्मों का स्वरूप	डॉ. कपिल गौतम	13–27
4.	वैदिक परम्परा में संसृतिचक्र के प्रवर्तन की समीक्षा	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	28–40
5.	औपनिषदीय प्रश्नोत्तर परम्परा	डॉ. सरोज कौशल	41–47
6.	पाञ्चरात्रागम एवं भक्तितत्त्व विमर्श	प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	48–54
7.	हमारी साधनाओं का मूलाधार 'हृदय'	महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री	55–57

8.	अजपाजपविधि का स्वरूप व रहस्य	प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	58–64
9.	श्रीविद्या–साधना के सिद्धान्त	डॉ. आदित्य आङ्गिरस	65–71
10.	शाक्ततन्त्र में चन्द्रविद्या और तिथियों के रहस्य	डॉ. हर्षदेवमाधवः	72–79
11.	एकैवाहं जगत्यत्र	डॉ. हरिशङ्करपाण्डेयः	80–86
12.	*हठयोगप्रदीपिका* में वर्णित साधनातत्त्वों की दार्शनिक समीक्षा (नादतत्त्व के विशेष संदर्भ में)	डॉ. प्रदीप	87–96
13.	नास्तिकदर्शनेषु पुनर्जन्मवादः	डॉ. सुजाता पटेल	97–99
14.	विश्व की ऊर्जा एवं प्रेरणा स्रोत : सूर्यदेवता का वैशिष्ट्य	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	100–104

सम्पादकीय

परम सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

इस अङ्क के प्रथम आलेख 'वैदिक दर्शन में तीन शरीर तथा उसके कर्म का त्रिकाल में व्याप्ति का विज्ञान' में *राजस्थान पत्रिका* के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर के आधार पर त्रिकालों में उसके अस्तित्व की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की है। अव्यय पुरुष भूतकाल है, स्थूल शरीर तथा इन्द्रियाँ वर्तमान है, अक्षर पुरुष राजसकर्त्ता है तथा क्षर पुरुष तमलोक है। हमारा भविष्य कारण शरीर में विद्यमान है। मन के चार भेदों से इसे स्पष्ट किया है। यह आलेख अनुपम वैदिक शास्त्रीय रहस्यों को उन्मीलित करता है जो गहन एवं अद्भुत शास्त्रीय विवेचन है। अत: सादर प्रणाम व अभिनन्दन।

द्वितीय आलेख 'वैदिक वृष्टि सिद्धान्त की वैज्ञानिक दृष्टि' में डॉ. विश्वावसु गौड़ एवं प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़ ने वैदिक संहिताओं में निरूपित वर्षा के विज्ञान को प्रामाणिक रूप में सिद्धान्तित किया है। पर्जन्य तथा मरुत् एवं सूर्य के द्वारा वर्षा होने के प्रामाणिक निर्णय प्रस्तुत किये हैं तथा वैज्ञानिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। अत: सादर नमन व साधुवाद।

तृतीय आलेख 'ब्रह्मविद्या वेदान्त के अधिकारित्व प्राप्ति हेतु त्याज्य एवं करणीय कर्मों का स्वरूप' में डॉ. कपिल गौतम ने ब्रह्मविद्या के अधिकारी की योग्यता के लिए वर्ज्य कर्म तथा स्वीकार्य कर्मों की गम्भीर शास्त्रीय मीमांसा करके महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, एतदर्थ सादर साधुवाद।

चतुर्थ आलेख 'वैदिक परम्परा में संसृतिचक्र के प्रवर्तन की समीक्षा' में डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने संसार की गतिशीलता के वैदिक आधार को स्पष्ट करते हुए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अत: सादर साधुवाद।

पञ्चम आलेख 'औपनिषदीय प्रश्नोत्तर परम्परा' में प्रो. सरोज कौशल ने प्रश्नोत्तर की वैदिक परम्परा का प्रामाणिक एवं युक्ति संगत विवेचन किया है जिससे उस समय की चिन्तन परम्परा का मूल स्रोत ज्ञात होता है। अत: सादर वन्दन एवं अभिनन्दन।

षष्ठ आलेख 'पाञ्चरात्रागम एवं भक्तितत्त्व विमर्श' में प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने पांचरात्रागम के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भक्तितत्व के विविध अङ्गों की दार्शनिक समीक्षा प्रस्तुत करके महान् कार्य किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

सप्तम आलेख 'हमारी साधनाओं का मूलाधार 'हृदय'' में विश्वविख्यात मनीषी देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी ने तन्त्रागम की साधना में हृदय की भूमिका पर विधिवद् सर्वशास्त्रीय व्याख्या सुस्पष्ट की है। षट्चक्र के प्रतीकार्थ को आधुनिक दृष्टि से समझाने का महान् प्रयास किया है। प्राच्य एवं प्रतीच्य दर्शन के भेदों को सुस्पष्ट किया है। अत: इनके चरणों में सादर प्रणामाञ्जलि।

अष्टम आलेख 'अजपाजपविधि का स्वरूप व रहस्य' में प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा ने श्वास-प्रश्वास में हंस तथा सोहं की उपासना की शास्त्रीय विधि का आधार एवं पद्धति को सुस्पष्ट किया गया है ताकि श्रीविद्या साधकों की साधना में गति हो सके तथा साधना का मर्म विदित हो सके।

नवम आलेख 'श्रीविद्या-साधना के सिद्धान्त' में डॉ. आदित्य आङ्गिरस ने श्रीविद्या के ग्रन्थों का विवरण तथा साधना के सिद्धान्तों का विशद विवरण अंकित करने का विनम्र प्रयास किया है। अत: हार्दिक साधुवाद।

दशम आलेख 'शाक्ततन्त्र में चन्द्रविद्या और तिथियों के रहस्य' में डॉ. हर्षदेवमाधव ने चन्द्रविद्या के प्रसङ्ग में तिथियों के आधार पर शाक्त साधना का गुप्त स्वरूप प्रगट किया है। रात्रिपूजन की शास्त्रीय महिमा भी सिद्ध की है। एतदर्थ उनका हार्दिक साधुवाद एवं अभिनन्दन।

एकादश आलेख 'एकैवाहं जगत्यत्र' में डॉ. हरिशङ्कर पाण्डेय ने दुर्गासप्तशती के आधार देवी के माहात्म्य के विविध पक्षों का मनोरम शब्दावली में सुस्थापन किया है। अत: हार्दिक साधुवाद।

द्वादश आलेख '*हठयोगप्रदीपिका* में वर्णित साधनातत्त्वों की दार्शनिक समीक्षा (नादतत्त्व के विशेष संदर्भ में)' में डॉ. प्रदीप ने *हठयोगप्रदीपिका* में नादतत्त्व के सन्दर्भ में वर्णित साधना के तत्त्वों की समीक्षा तथा तुलना प्रस्तुत की है। अत: हार्दिक साधुवाद।

त्रयोदश आलेख 'नास्तिकदर्शनेषु पुनर्जन्मवादः' में डॉ. सुजाता पटेल ने चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विवरण प्रस्तुत किया है। अत: साधुवाद।

अन्तिम आलेख 'विश्व की ऊर्जा एवं प्रेरणा स्रोत : सूर्यदेवता का वैशिष्ट्य' में डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने ऋग्वेद से लेकर वैदिक परम्परा में सूर्य की उपासना के आधारों को स्पष्ट किया है। पुराणों में सूर्य उपासना से हुए चमत्कारों का वर्णन किया है जो इस साधना की विशिष्टता को प्रतिपादित करते हैं।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

वैदिक दर्शन में तीन शरीर तथा उसके कर्म की त्रिकाल में व्याप्ति का विज्ञान

आचार्य गुलाब कोठारी

आत्मा के दो धातु हैं—ब्रह्म एवं कर्म। कर्म का आधार ब्रह्म है। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि** (गीता 3.15) अर्थात् कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न जानो। ब्रह्म नित्य ज्ञान है तथा कर्म नित्य कर्म है। इन्हीं दोनों के समन्वय से सम्पूर्ण लोकसृष्टियों का विकास हुआ है। पूर्ण ब्रह्म से सम्बद्ध यह कर्म भी पूर्ण ही होता है। *ईशोपनिषद्* में भी कहा गया है कि—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात्- सृष्टि के पहले भी ब्रह्म पूर्ण रहा है- सृष्टि अवस्था में सर्वान्त स्थित ब्रह्म भी पूर्ण है- उस पूर्ण ब्रह्म से ही पूर्ण जगत् निकाला गया है- उस पूर्ण ब्रह्म में से जगत् रूप पूर्णता को अलग कर लिया जाए तो बाकी बच गया, वह ही पूर्ण माना जाएगा।

कर्म करने का अधिकार हमारा है, फल को भोगने के लिए भी हम हैं। किन्तु फल कब मिलेगा इसका निर्णय हमारे हाथ में नहीं है। कौनसे काल में मिलेगा, यह भी हमें मालूम नहीं। कर्म शब्द बोलने में सरल लगता है, उतना सरल है नहीं। शरीर, मन, बुद्धि के कर्म कहने से भी काम नहीं चलता। क्योंकि शरीर भी तीन होते हैं। हमारे ही नहीं, प्रत्येक महाभूत के भी। आकाश के तीन शरीर, आकाश से वायु बना—उसके भी तीन शरीर। वायु के भीतर आकाश भी रहता है—उसके तीन शरीर। पृथ्वी में शेष चारों महाभूत भी रहते हैं। अर्थात् पांच महाभूतों के पन्द्रह शरीर। मन भी चार, बुद्धि, प्रज्ञा, विज्ञानात्मा, अहंकार (बुद्धि का जनक) अलग। कर्म का अपना कुनबा है, इसके अपने अवयव है। कर्म स्वयं में एक ब्रह्माण्ड है। शरीर भी ब्रह्माण्ड है। कर्म के आधार पर ही शरीर प्राप्त होता है। अत: कर्म करने में भी सम्पूर्ण शरीर रूपी ब्रह्माण्ड काम करता है। यह ब्रह्माण्ड कर्म का ही साम्राज्य है, कर्मों के फल की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के अलावा कर्म ही तो है, जो ब्रह्म के विवर्त का निर्माण करता है। ब्रह्म के एकमात्र स्वप्न— **एकोऽहं बहुस्याम्—** को फलित करता है। जिस प्रकार पिता ही पुत्र बनता है, उसी के समानान्तर ब्रह्म स्वयं ही कर्म बनता है।

संसार में एक ही ब्रह्म होने से उसके कर्म की दिशा-उद्देश्य भी एक ही है। **एकोऽहं बहुस्याम्।** तब यह सारा खेल क्या है? कर्म के लिए सर्वप्रथम मन में इच्छा पैदा होना अनिवार्य है। इच्छा पैदा होने का आधार

क्या हो? इच्छा ज्ञात विषय के लिए ही उठती है। ज्ञान से इच्छा होना एक बात है, इच्छा को पूरी करने की स्वीकृति मिल जाना दूसरी बात है। यह भी मन और बुद्धि के मध्य होने वाले अत्यन्त गतिमान् सम्प्रेषण का क्षेत्र है। स्वीकृति के भी तो कई पहलू होते हैं। इच्छा पूरी की जाए अथवा नहीं, कब की जाए, क्या फल मिलेगा और उसकी जीवन में क्या उपयोगिता होगी। क्या इच्छा को दबा देना उचित होगा? कर्म सृष्टि साक्षी होगा या मुक्ति साक्षी, क्या कर्म करने से पूर्व गुरु, माता-पिता, जीवनसाथी, सन्तान, परिजनों आदि की भी स्वीकृति लेनी चाहिए? मेरे किए गए कर्म का इन सब पर भी प्रभाव पड़ता है। क्या कर्म मेरा स्वनिर्मित है?

गीता में कर्म की प्रेरणा के तीन कारण कहे गये हैं—ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय। ये तीनों प्रेरक तत्त्व भी स्वयं में त्रिगुणी हैं। कर्ता की प्रकृति ही तय करती है कि ज्ञेय के बारे में क्या जानकारी उसके पास है और क्या जानने की इच्छा उसके मन है। तात्त्विक दृष्टि से तो ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय भिन्न नहीं होते, एक ही रहते हैं। विषय सामने हो तो ही कोई उसका ज्ञाता हो सकता है। विषय नहीं तो न ज्ञान, न ही ज्ञाता।

ज्ञाता की प्रकृति-सात्त्विक, राजसिक या तामसिक ही विषय और कर्म की दिशा तय करेगी। वैसा ही ज्ञान, वैसा ही कर्म। कर्म क्रिया को कहते हैं। इसका अपना गणित होता है। कर्म बिन्दुवार आगे बढ़ता है। जिस प्रकार अगला पांव जमीन पर टिकने के बाद दूसरा पांव उठता है। कर्म भी एक-एक बिन्दु करके पूरा होता है। अगला कर्म होते ही पिछला बिन्दु लीन हो जाता है। बिन्दुओं की शृङ्खला ही कर्म बनती है। जिसको त्रिगुणी प्रकृति-स्वभाव कह रहे हैं, वह आत्मा का अङ्ग है। ये ही आत्मा को शरीर में बांधते हैं।

सत्त्व गुण निर्मल है तथा सुख और ज्ञान के सम्बन्ध से व्यक्ति की आत्मा को बांधता है। रजोगुण कामना और आसक्ति के द्वारा कर्म-फलों से बांधता है। सम्पूर्ण देहधारियों को मोहित करने वाले तमोगुण को तुम अज्ञान से उत्पन्न होने वाला समझो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा देहधारियों को बांधता है। लोभ रजोगुण के कारण, कर्मों से विरक्ति तम के कारण होती है। प्रमाद-आलस्य बढ़ जाता है।

गीता कहती है कि कर्ता, करण और क्रिया तीनों ही कर्म संग्रह कहे जाते हैं। कर्म के पांच कारण भी कृष्ण ने गिनाए हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टाएं (प्रयास) तथा देवयोग ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। — *गीता, 18.14*

मनुष्य मन, वचन, काया से जो भी कर्म करता है, उसके ये पांचों कारण हैं। ये तीनों भी हमारे तीनों शरीरों से जुड़ रहते हैं। इनमें कारण शरीर से ईश्वरीय इच्छा अर्थात् पूर्व कर्मों के फल पर आधारित इच्छा उठती है। इसी के साथ-साथ स्थूल शरीर के इन्द्रिय मन की विषयों की ओर दौडऩे की इच्छा जुड़ जाती है। ईश्वरीय इच्छा त्रिगुण मुक्त रहती है, जबकि जीवेच्छा त्रिगुणी होती है। स्वीकृति मन देता है। ईश्वरीय इच्छा तो प्रारब्ध है, स्वयं स्वीकृत होती है। जीव इच्छा की स्वीकृति प्रतिबिम्बित - त्रिगुणी मन देता है। स्वीकृति के साथ ही सूक्ष्म शरीर में प्राणों की

हलचल होने लगती है। मन-प्राण-वाक् सदा साथ रहते हैं। प्राण सदा मन का अनुसरण करते हैं। इसी आधार पर स्थूल शरीर में क्रिया का क्रम चालू हो जाता है। कर्म होता है और फल के लिए बन्ध हो जाता है। बन्धनमुक्त कर्म के लिए कृष्ण ने एक मार्ग बताया है—निष्काम कर्म अर्थात् वैराग्य बुद्धियोग।

कर्म ही विश्व रूप है अत: कर्म की व्याप्ति भी तीनों ही कालों में रहती है। कर्म का स्वरूप क्रियामात्र तक सीमित नहीं है। क्रिया से पूर्व भूतकाल के कर्म और फल, वर्तमान की इच्छाएं तथा चेष्टाएं और साथ ही साथ भविष्य में प्राप्त होने वाले फल भी सम्मिलित रहते हैं। अर्थात् कर्म का आरंभ पिछले कर्म के फल के साथ ही हो जाता है तथा वर्तमान कर्म की समाप्ति फल प्राप्त होने पर ही होती है। फल प्राप्ति भी सातों लोकों में व्याप्त रहती है। जिस प्रकार जीवात्मा महद्लोक से चलकर क्रमश: भूपिण्ड पर अथवा अन्य पिण्डों पर आकर ठहरता है, उसी तरह प्रतिसृष्टि में भी उसकी ऊर्ध्वगति क्रमशरू ही होती है। कुछ साधक सूर्य मण्डल का भेदन करने में सफल हो सकते हैं।

कर्म की इसी त्रिकाल गति, त्रि-शरीर (तीन शरीर) तथा सप्तलोक यात्रा से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कर्म करने वाला, फल भोगने वाला आत्मा भी एक ब्रह्म ही है जो कर्म के भेद से शरीर (योनियां) बदलता रहता है। स्वयं ही स्वयं के साथ लीलाएं करता है। पूरा विश्व ही ब्रह्म के कर्म का मंच है।

वैसे तो काल का कोई स्वरूप नहीं होता, किन्तु व्यवहार दृष्टि से जीवन को एवं सृष्टि की सम्पूर्ण गतिविधियों को तीन कालों के संदर्भ में ही देखा जाता है—भूत, भविष्य और वर्तमान। यह भी एक विचित्र दृष्टि है, जीवन को आंकने की। एक ओर जीवन भूतकाल से निकलकर वर्तमान में होता हुआ भविष्य की ओर जाता दिखाई पड़ता है। वहीं दूसरी ओर, जो कल तक मेरा भविष्य था, वही वर्तमान बनकर भूतकाल बन जाता है। एक दृष्टि देशकाल की है। 'Time and Space' की है। जो कल बीज था, आज पेड़ है, कल बीज बन जाएगा। जो कुछ पेड़ में है, वह सब उस बीज में भी था। नए बीज में भी होगा। हर पेड़ उम्र पर्यन्त बीज देगा और नष्ट हो जाएगा। प्रत्येक प्राणी भी नए प्राणी को पैदा करके चला जाता है। पैदा होना भूतकाल से बाहर आना है। मर जाना भविष्य है। मध्य में ब्रह्म का विस्तार करना वर्तमान है। यही त्रिकाल दृष्टि का मूल आधार है। यही शिव भाव है।

सृष्टि में तीन पुरुष हैं—अव्यय पुरुष, अक्षर पुरुष और क्षर पुरुष। क्षर पुरुष वर्तमान है, तब अक्षर पुरुष भविष्य का निर्माता है। अव्यय पुरुष मूल में भूतकाल है। प्रतिसृष्टि क्रम में अक्षर पुरुष की भविष्य दृष्टि अव्यय पुरुष की ओर मुड़ जाती है। वर्तमान अन्तर्मुखी हो जाता है। यह प्रकृति का स्वरूप भी है। अव्यय पुरुष सद्रूप सत्य है, अक्षर कर्तारूप रजस् है तथा क्षर पुरुष तमलोक है।

हमारे अध्यात्म में भी तीन शरीर रहते हैं। ये तीनों ही हमारा भूत-भविष्य-वर्तमान हैं। स्थूल शरीर और इन्द्रियां वर्तमान हैं और आधिभौतिक विश्व से जुड़ी रहती हैं। अविद्या के आधार पर कार्य चलता है—बाहरी विस्तार क्रम होता है। हमारा कारण शरीर हमारा भूतकाल है। इसमें हमारे जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों का संग्रह रहता है। इस जन्म में कौन से कर्म प्रारब्ध बनेंगे, यह ज्ञान कारण शरीर में रहता है। मूल में यही हमारा

आत्मा कहलाता है। यह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता, बल्कि सूक्ष्म शरीर के साथ अन्यत्र चला जाता है। पुन: नए शरीर को प्राप्त करके उसकी भावी यात्रा तय करता है। भविष्य तय करता है।

अक्षर पुरुष या प्राण शरीर आधिभौतिक स्वरूप होता है। यह अव्यय और क्षर के मध्य का सेतु होता है। गतिमान् तत्त्व-रजस् है। स्थूल और कारण शरीर में गति नहीं है। जैसे ऋक् और साम गतिशून्य हैं। यजुरू ही गति तत्त्व है—पुरुष है और सृष्टि का नियन्ता है। सृष्टि में यह एक ही पुरुष है। अत: सृष्टि पुरुष प्रधान कहलाती है। प्राण को ही देवता कहा जाता है। अक्षर पुरुष में ही हमारा हृदय होता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र प्राण मिलकर ही हृदय का स्वरूप बनते हैं। यही क्षर शरीर का नियंत्रण करते हैं। शरीर (स्थूल) में कर्ता भाव नहीं होता। स्थूल शरीर तो पंचभूत का निर्माण है। अत: जड़ ही है। हृदय केन्द्र में स्थित पुरुष के मन में जो इच्छा पैदा होती है, उसे पूरी करने का निर्णय ही स्थूल शरीर की क्रियाओं का आधार होता है। इस इच्छा को ही पुरुष की माया कहा जाता है।

इच्छा के बिना कर्म नहीं होता। ज्ञान के बिना इच्छा पैदा नहीं होती। यहां ज्ञान ब्रह्म है, इच्छा माया है। इच्छापूर्ति की क्रिया का आधार हृदय के तीनों प्राण और उनकी शक्तियां बनती हैं। इनकी शक्तियाँ ही महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली रूप हैं। ये ही प्रकृति (त्रिगुण) की सत्त्व-रज-तम रूप अभिव्यक्तियाँ होती हैं। इनका समरूप ही प्रलय अवस्था है। इस प्रकार अक्षर या प्राण शरीर ही गतिविधियों का कारण बनता है। वही कर्म का स्वरूप तय करता है और कर्म को दिशा भी देता है।

यहां एक और सिद्धान्त काम करता है जो हमारे ध्यान में रहना चाहिए। इच्छा मन में ही उठती है। जब पुरुष एक ही है, तो मन भी एक ही है। यदि सम्पूर्ण सृष्टि में पुरुष (ईश्वर) एक ही है, तब सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में मन भी एक ही है। उसी को निश्चित रूप से अव्यय मन ही कहा जाएगा। आपके-हमारे, सभी जड़-चेतन सृष्टि के केन्द्र में यही मन है। इसीलिए तो हम एक-दूसरे को देखकर प्रतिक्रिया कर देते हैं—बिना बोले ही। हमारा मन पहचानता है एक-दूसरे को, पिछले जन्मों से। यह सम्बन्ध और पहचान कारण शरीर में संग्रहीत रहते है। वे ही हमको भूतकाल से भविष्य की ओर ले जाती है।

शरीरों के अनुसार हमारे मन के स्वरूप भी तीन तरह के हो जाते हैं। कारण (अव्यय) शरीर का मन 'श्वोवसीयस मन' कहलाता है। अक्षर सृष्टि (शरीर) का 'महन्मन'/अतीन्द्रिय मन कहलाता है। स्थूल शरीर में इन्द्रियों के साथ बाहर जाने वाला 'इन्द्रिय मन' तथा बाहर से ज्ञान लेकर बुद्धि तक पहुंचाने वाला हमारा 'सर्वेन्द्रिय मन' है। इन्द्रिय मन इच्छा के साथ बाहर जाता है। सर्वेन्द्रिय मन जानकारियों से तुष्टि करता है। यही वर्तमान तृष्णा रूप में इच्छाओं की पुनरावृत्ति कराता है। भविष्य का निर्माण करता है। ये सभी मन मूल मन के प्रतिबिम्ब मात्र हैं।

मूल मन की इच्छा कारण शरीर से उठती है, पिछले कर्मों के फलों के आधार पर उठती है। कोई प्राणी इस इच्छा को दबा नहीं सकता। ये इच्छाएं सभी 84 लाख योनियों को भोग योनियों की संज्ञा देती हैं। मानव मन में ही उठने वाली जीव इच्छा कर्मरूप में योग द्वारा, निष्काम कर्मयोग अथवा वैराग्य बुद्धियोग के साधन से मुक्ति का मार्ग भी ले सकती है।

जीवन वर्तमान है। एक ओर ईश्वरीय इच्छा से भविष्य की ओर बढ़ता है। वहीं दूसरी ओर माया के जाल में जीव का मन भ्रमित होता है। यह भ्रमित मन नई-नई आधिभौतिक इच्छाओं का नित नया जाल बुनता रहता है। प्राकृतिक/प्रारब्ध कर्मों का भान भी नहीं रहता। इन्हीं कर्मों के फल-त्रिगुण के प्रभाव से चौरासी लाख योनियों में घुमाते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। (गीता 18.61)

अर्थात्- शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए सभी प्राणियों को ईश्वर अपनी माया से भ्रमण कराता हुआ सबके हृदय में स्थित है।

महाभारत के युद्ध में जब भीष्म शरशय्या पर थे तब उन्होंने कृष्ण से पूछा—हे केशव! मुझे याद नहीं कि मैंने कभी कोई पाप किया है। तब मुझे किस लिए यह शय्या मिली। प्रत्युत्तर में कृष्ण ने कहा कि यह आपके पूर्वजन्म के पाप का फल है जिसमें आपने कानखजुरा (शतपाद्) जीव को बेर की झाड़ी में डाल दिया था जिससे उसका शरीर कांटों से बिन्ध गया था। उसी के परिणामस्वरूप यह बाण शय्या आपको मिली है। इतने जन्मों तक इसका फल नहीं भोगना पड़ा क्योंकि आप धर्म के मार्ग पर चल रहे थे किन्तु द्यूतसभा में द्रोपदी के अपमान के समय आपके मौन रहने के कारण पुण्यों का क्षरण हो जाने पर यह भूतकाल का कर्मफल सामने आया है। भीष्म को इच्छामृत्यु का वरदान था, उन्होंने उत्तरायण देहत्याग हेतु सर्वोत्तम काल माना। यहां भीष्म के इस घटनाक्रम को हम भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों के संदर्भ में देख सकते हैं। कानखजुरा की घटना भीष्म का भूतकाल है, वहां किए गए जिस कर्म का फल शरशय्या पर भोगना पड़ रहा है वह उनका वर्तमान है तथा इच्छा से उत्तरायण में शुक्लगमन चुनना उनका भविष्य है।

निष्कर्ष यह निकला कि हम सभी प्राणी त्रिकाल रूप में ही जीते हैं। सृष्टि चक्र की तरह हमारा शरीर भी त्रिकाल के सिद्धान्त पर तीनों शरीरों के साथ जीता रहता है। हम केन्द्र में सभी ब्रह्म हैं, किन्तु स्वयं अपनी ही माया को समझने में असमर्थ होते हैं। प्रकृति ने तो सृष्टि-प्रलय दोनों हमारे हाथ में देकर ही ब्रह्म रूप में - स्थूल देह में प्रकट किया है।

प्रधान सम्पादक,
राजस्थान पत्रिका समूह
केशरगढ़, जयपुर (राजस्थान)

वैदिक वृष्टि सिद्धान्त की वैज्ञानिक दृष्टि

डॉ. विश्वावसु गौड़[1], प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़[2]

सारांश (Abstract)

वेद ज्ञान का भण्डार हैं, इनमें सम्पूर्ण विषय किसी न किसी रूप में प्रत्यक्षतः या सांकेतिक रूप में निर्दिष्ट हैं। वेदों में निर्दिष्ट विषय प्रामाणिक, सिद्धान्तानुमत एवं विज्ञानसम्मत हैं। तत्कालीन व्यवस्थाओं के अनुरूप प्रचलित विधाओं से प्रत्येक विषय का प्रमाणीकरण मंत्रों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। *अथर्ववेद* में वृष्टिविज्ञान विशेषेण वर्णित है, लेकिन मूलतः *ऋग्वेद* में भी वृष्टि का विज्ञानसम्मत व्यावहारिक वर्णन उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में यह स्पष्ट निर्देश है कि पृथ्वी पर प्राप्त होने वाले जितने भी स्रोतस् हैं उनका मूल वर्षा ही है। ऋग्वेद में वृष्टिचक्र का सांकेतिक वर्णन है, जिसमें सूर्य के माध्यम से अंतरिक्ष में जल गृहीत होकर बादल बनते हैं तथा वर्षा के माध्यम से यही जल वापस पृथ्वी पर गिरता है। ऋग्वेद में वर्णित यह वृष्टिचक्र *चरकसंहिता* में स्पष्टतः निर्दिष्ट है। ऋग्वेद में वर्षा होने की प्रक्रिया में वायु एवं सूर्य का महत्त्व निर्दिष्ट किया गया है, यह वर्णन वर्तमानकालीन मौसमविज्ञान के द्वारा बताए जाने वाले वृष्टिचक्र से पूर्णतः साम्यभाव रखता है। अतः वैदिक वृष्टिवर्णन में पूर्णतः वैज्ञानिक दृष्टि परिलक्षित होती है।

महत्त्वपूर्ण शब्द (key words)

वृष्टिः, उत्स्याः, स्तरीः, प्रतिगृभ्णाति, अभिमूर्च्छन्ति, विरप्शम्, कोशासः(बहुवचन)।

वेद ज्ञान का भण्डार हैं, इनमें सम्पूर्ण विषय किसी न किसी रूप में प्रत्यक्षतः या सांकेतिक रूप में निर्दिष्ट हैं। इनका गंभीर अध्ययन एवं मनन करने के बाद ही विश्लेषण किया जाना सम्भव है। समय-समय पर वैदिक विद्वानों ने इनमें निर्दिष्ट एक-एक विषय को विश्लेषित कर व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। वर्तमान में बहुत से विशेषज्ञ विद्वानों का कहना है कि वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है, अतः प्रत्येक विषय को विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही (निश्चित मापदण्डों के माध्यम से प्रमाणित होने के बाद ही) स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वैदिक युग वैज्ञानिकयुग नहीं था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वेद का मर्मज्ञ विद्वान् तो सक्षम है ही क्योंकि वह हर प्रश्न या संशय का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देने में समर्थ है पर एक सामान्य बुद्धिजीवी भी इस बात को मानता है कि किसी भी युग में कही जाने वाली बात

प्रमाणों के आधार पर संस्थित हो जाने पर ही सिद्धान्त का स्वरूप धारण करती है। अतः वैदिक युग भी वैज्ञानिकयुग ही था।

सुपरीक्षित संस्थापित निर्णय ही सिद्धान्त

हर युग में कही गई बात विज्ञानसम्मत एवं प्रमाणसम्मत होती ही है। इस सम्बन्ध में आचार्य चरक कहते हैं कि परीक्षकों के द्वारा अनेक प्रकार से परीक्षण कर लेने के बाद ही जो निर्णय संस्थापित किया जाता है वह सिद्धान्त होता है, यथा—

सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः।

(*च. वि.* 8/37)

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि स्थापित सिद्धान्त को अनेक बार भी एक निश्चित प्रक्रिया के माध्यम से उपयुक्त मापदण्डों पर परीक्षित किया जाए तो उसका सर्वदा एक समान ही निर्णय या परिणाम प्राप्त होता है

ज्ञान का शाश्वतत्व

वेदों में कहे गए सिद्धान्त या विषय कहीं पर तो स्पष्टतः निर्दिष्ट हैं जबकि कहीं कहीं पर सूत्ररूप में सङ्केतित हैं, यही कारण है कि प्रत्येक युग में प्रबुद्ध वर्ग ने समयानुकूल विषयों को वेदों में सूक्ष्मेक्षणपूर्वक अन्वीक्षित कर युगानुरूप सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वर्तमान काल में भी बहुत से वैज्ञानिक अनेक विषयों के सूक्ष्मतम स्वरूप को वेदों में ढूँढने का प्रयास कर रहे हैं, इससे वेदकालीन ज्ञान का ऐतिहासिक वैशिष्ट्य और गौरव ही अभिवृद्ध नहीं होता अपितु भविष्य के लिए नवीन विषयों का ज्ञान करने के लिए नवीन आविष्कारों का मार्ग प्रशस्त करने के लिए एक निश्चित प्रक्रिया भी प्राप्त होती है। ज्ञान शाश्वत है, सर्वदा संस्थित है, अतः ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया जाता अपितु ज्ञात किया जाता है।आयुर्वेद को (आयुः सम्बन्धी ज्ञान को) शाश्वत निर्दिष्ट करते हुए आचार्य ने ज्ञान के शाश्वतत्व का सिद्धान्त सङ्केतित किया है, यथा—

सोऽयमायुर्वेद शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता....(*च.सू.30*/27)

अर्थात् वह यह आयुर्वेद शाश्वत कहा जाता है अनादि होने से अपने लक्षण के स्वभावतः सिद्ध होने से, भावों (सत् वस्तुओं) के स्वभाव के नित्य होने से (शाश्वत कहा जाता है)।

निश्चय ही ऐसा कभी भी नहीं हुआ है कि आयु की सन्तान (निरन्तरता, प्रसार) या बुद्धि की सन्तान न हो अर्थात् आयु एवं बुद्धि की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है (ऐसा कभी नहीं हुआ की आयु और बुद्धि की परम्परा अवरुद्ध हुई हो)।

यद्यपि यह सिद्धान्त आयु के ज्ञान के सन्दर्भ में कहा गया है, पर यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार के ज्ञान के शाश्वतत्व को संसिद्ध करने के लिए उद्धृत किया जा सकता है। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि वेदों में अनेक प्रकार के ज्ञान का अनवरत प्रवाह है, केवल उसे ज्ञात करने की आवश्यकता है।

वैदिक वृष्टि

इसी क्रम में यह कहना उपयुक्त है कि वेदों में वृष्टिविज्ञान के सिद्धान्त एवं तत्सम्बन्धी शाश्वत ज्ञान गूढतम स्वरूप में स्थित है। वेदमर्मज्ञ विद्वानों के सहयोग एवं निर्देश से वर्तमानकालीन वैज्ञानिक-विधाओं एवं प्रमाणों के माध्यम से भी उन तथ्यों को परीक्षित कर प्रमाणित किया जा सकता है। यहाँ वेदों में निर्दिष्ट वृष्टिविज्ञानसम्बन्धी कुछ तथ्यों को सङ्केतित किया जा रहा है, जिसे *चरकसंहिता* में बताए गए वर्षा के स्वरूप के साथ समन्वित कर सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। इनका सूक्ष्मेक्षणपरक विश्लेषण तो तज्ज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं। उनके निर्देशानुसार वैज्ञानिक-विधा पर इस तरह के सङ्केतों का विश्लेषण किया जाए तो सुनिश्चित प्रामाणिक परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। यहाँ वृष्टिसम्बन्धी स्वल्पतम वेदवाक्यों को उल्लिखित किया जा रहा है—

सभी जलस्रोतस् का मूल वर्षा

मेघों से बरसने वाले वर्षा के जल का वेदों में पर्याप्त रूप से वर्णन किया गया है तथा जल किस प्रकार से बरसता है? इसका (वृष्टि का) चक्र किस प्रकार से है? इसमें सूर्य एवं विभिन्न प्रकार की वायुओं का क्या योगदान है? इन सब का पर्याप्त वर्णन है, फिर भी जङ्गम प्राणियों के जीवन के लिए तथा स्थावर मूर्तिमन्त भावों (स्वरूपों) के लिए जल निरन्तर प्राप्त होना परमावश्यक है, इसलिए नदी, झरने तथा निरन्तर जल प्राप्त करवाने वाले नाले आदि स्रोतस् का भी वर्षा के पानी के साथ उल्लेख करते हुए कहा है कि इन सब से प्राप्त होने वाला पानी तुम्हारा कल्याण करे। इससे यह सङ्केतित होता है कि सम्पूर्ण सृष्टि के लिए जल कल्याणकारी होता है इसलिए परमावश्यक है तथा मूल रूप से इन सभी जल प्राप्त करवाने वाले स्रोतस् का मूल वर्षा ही है, अथर्ववेद के इस मन्त्र में यह स्पष्ट रूप से सङ्केतित है, यथा—

शं त आपो हैमवती शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमुः ते वर्ष्याः ॥ (*अथर्ववेद*, 19/2/1)

अर्थात् हैमवती (हिमालय पर्वत से निकलने वाली नदी) का जल, झरने का पानी (उत्सः प्रस्रवणम् तत्र भवाः उत्स्याः,) एवं वर्षा से प्राप्त होने वाला जल (वर्षासु भवा आपः वर्ष्याः) एवं सदा बहने वाला जल (सर्वदा स्यन्दमाना सनिष्यदाः) तुम्हारा कल्याण करे।

आप् शब्द का बहुवचन में प्रयोग होता है इसलिए आप् के साथ आने वाले सभी उत्स्याः आदि शब्द एवं क्रिया (सन्तु) बहुवचन में प्रयुक्त की गई है।

पर्जन्य द्विविध

ऋग्वेद में पर्जन्य का दो तरह का स्वरूप निर्दिष्ट किया है, एक "स्तरीः" अर्थात् निवृत्तप्रसवा गौ की तरह पर्जन्य का होना बताया है तथा दूसरा "**उ त्वत् पद अन्यच्च रूपम्**" भी निर्दिष्ट किया है , जिस में "सूते" पद का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या करते हुए सायण कहते हैं कि "सूते धेनुवत् प्रसूते उदकानि प्रवर्षति एषः पर्जन्यः" धेनु के समान (धेनु जैसे दूध देती है वैसे) यह पर्जन्य जल की वर्षा करता है, यथा–

स्तरीरुत्वद्धवति सूत उत्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः।
पितुः पयः प्रतिगृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः (वर्धते)।। (*ऋग्वेद,* 7/101/3)

पितुर्दिवः सकाशात् पयः वृष्ट्युत्पादकं माता पृथ्वी प्रतिगृभ्णाति प्रतिगृह्णाति। (*सायण*)

अर्थात् पर्जन्य का एक रूप निवृत्तप्रसवा गौ की तरह है और दूसरा रूप जलवर्षक है, ये इच्छानुसार अपने शरीर को बनाते हैं। माता (पृथ्वी) पिता (द्युलोक) से दूध (पानी) लेती है जिससे पिता (द्युलोक) और पुत्र (प्राणिवर्ग) दोनों बढते हैं।

यहाँ जो कहा है कि ये (पर्जन्य) इच्छानुसार अपने शरीर को बनाते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि ये माता (पृथ्वी) से जल लेते हैं तभी तो अपने शरीर को बनाते हैं। पिता से माता (पृथ्वी) जल लेती है जिससे पिता बढ़ता है और पुत्र प्राणिवर्ग भी बढ़ता है, इसका तात्पर्य यह है कि पिता अंतरिक्ष वर्षा करता है।

इस प्रकार से यहाँ एक चक्र को निर्दिष्ट कर दिया है जिसमें खाली बादल जल पृथ्वी से लेते हैं इससे वे अपने शरीर को बनाते हैं तभी तो पिता जो अंतरिक्ष है वह बढ़ता है, उसी पिता (अन्तरिक्ष) से माता पृथ्वी जल को लेती है और उससे पुत्र प्राणिवर्ग बढ़ता है। उस पृथ्वी से पुनः जल लेकर पर्जन्य अपना शरीर बनाते हैं और पिता अंतरिक्ष बढ़ता है इस प्रकार से यह चक्र चलता रहता है।

"पितुः पयः प्रतिगृभ्णाति माता" ऋग्वेद में ये जो वाक्य कहे हैं उसमें अंतरिक्ष से पृथ्वी पर जल गिरने का सङ्केत है (पिता अंतरिक्ष से माता पृथ्वी जल ग्रहण करती है) एवं इससे पुत्र बढ़ते हैं यह परिणाम निर्दिष्ट किया है ठीक इसी तरह का स्वरूप अंतरिक्ष जल का पृथ्वी पर गिरना और उससे सम्पूर्ण प्राणियों तथा वनस्पतियों एवं स्थावर द्रव्यों का प्रीणन (अभिवर्धन, पोषण,तर्पण) आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है, जो ऋग्वेद में वर्णित "तेन पुत्रः (वर्धते)" इस प्रसंग से साम्य रखता है, यथा—

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च,
तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः।।39।। (*च.सू.*, 26/39)

अर्थात् अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुआ (बरसा हुआ) जल निःसन्देह सौम्य होता है, प्रकृति से ही शीतल, लघु और अभिव्यक्त रस वाला होता है। वह आकाश से गिरता हुआ जल और गिरा हुआ जल पञ्चमहाभूतों के गुणों से युक्त होकर जङ्गम एवं स्थावर भूतों की (जीवों, वनस्पतियों एवं पहाड़ों आदि की) मूर्तियों को (स्वरूप को) तृप्त करता है। उन मूर्तियों में छः रस अभिव्यक्त होते हैं।

इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि ने मूर्ति (मूर्तीः) शब्द से व्यक्तियों को ग्रहण किया है अर्थात् स्थावर-जङ्गमात्मक व्यक्ति (स्वरूप) को अन्तरिक्ष से गिरता हुआ यह जल तृप्त करता है—

मूर्तीरिति व्यक्तीः। अभिप्रीणयन्तीति तर्पयन्ति, किंवा जनयन्ति।
अभिमूर्च्छन्ति रसा इति व्यक्तिं यान्ति।। (*च.सू.*, 26/39 चक्रपाणि)

इस से सम्बन्धित वेदवाक्य को भाष्यकार सायण ने अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि "तेनैवोदकेन पुत्रः पृथिव्यां भव प्राणिसंघोऽपि वर्धते" अर्थात् उस उदक से ही पुत्र अर्थात् पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाला प्राणिसंघ बढ़ता है, इस प्रकार से जिसे ऋग्वेद में "वर्धते तेन पुत्रः" वाक्य से अभिव्यक्त किया है उसे आचार्य चरक ने "जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति" इस वाक्य से अभिव्यक्त कर दिया है।

वर्षाकारक त्रिविध मरुत्

ऋग्वेद में आगे चतुर्थ मंत्र में स्पष्टतः निर्देश दिया है कि इसमें तीन प्रकार का जल तीन प्रकार से निकलता है अर्थात् पूर्व, पश्चिम एवं उत्तर से वर्षा का निर्देश है, इसमें दक्षिण से वर्षा नहीं होने का सङ्केत भी है। यथा—

यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा ससुरापः।
त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वश्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥ (*ऋग्वेद,* 7/ 101 /4)

अर्थात् जिसमें सभी भुवन (प्राणी) अवस्थित हैं, जिसमें द्युलोक आदि तीनों लोक अवस्थित हैं, जिसमें जल तीन प्रकार (पूर्व, पश्चिम और दक्षिण) से निकलता है (**यस्माच्च आपस्त्रेधा ससुः प्राच्यप्रतीच्योवाचश्च—***सायण*) और चारों ओर उपसेचन करने वाले तीन प्रकार के महान् कोशासः अर्थात् मेघ (पूर्व, पश्चिम और उत्तर के मेघ) जल बरसाते हैं—(**उपसेचनासः उपसेक्तारः त्रयः पौरस्त्यः प्रदीच्य उदीच्यश्चेति त्रिप्रकाराः कोशासो मेघाः विरप्शं महान्तं पर्जन्यमभितः परितः मध्वः कर्मणिषष्ठी मधु उदकं श्चोतन्ति क्षारयन्ति वर्षन्ति**..... *सायण*)।

पर्जन्य के उत्पादन में सूर्य कारणभूत

उपर्युक्त विभिन्न वैदिक उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि वायु और सूर्य इन दोनों का वृष्टि में हेतुत्व है तथा पर्जन्य के उत्पादन में सूर्य कारणभूत है, यह निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि—

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवतूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥ (*ऋग्वेद,* 7/35/10)

अर्थात् विभिन्न गुणों से युक्त सविता (सूर्य) रक्षा करता हुआ हमारे कल्याण के लिए होवे, अन्धकारविनाशिनी उषाएं भी हमारे कल्याण के लिए होवें, हमारी प्रजा के लिए पर्जन्य भी कल्याणकारी होवें। हमारे क्षेत्र का पति शम्भु हमारे कल्याण के लिए होवे।

वैज्ञानिक दृष्टि

वर्तमान काल के मौसम वैज्ञानिक यह मानते हैं कि मानसून पूर्णरूपेण हवाओं के बहाव पर निर्भर करता है, जब ठण्डे प्रदेश से गर्म क्षेत्र की ओर हवाएं बहती हैं तो उन में नमी की मात्रा बढ़ जाती है और उसी के कारण वर्षा होती है। भारत में होने वाली वर्षा हिन्द महासागर एवं अरब सागर की ओर से आती है जो कि भारत का दक्षिण-पश्चिमी तट है। बंगाल की खाड़ी और अरब सागर से चलने वाली हवाएं भी दक्षिण-पश्चिम से चलकर इसी क्षेत्र में भारी वर्षा लाती हैं।

जमीन पर होने वाली हवा जल्दी गर्म होती है और ऊपर की ओर उठती है, इससे यह कम दबाव का क्षेत्र बन जाता है। इस का स्थान लेने के लिए समुद्री नम हवाएं इधर की ओर आती हैं, जिस से ऊपर उठने वाली ये हवाएं भी ठण्डी हो जाती हैं और उससे जल निस्स्यदन होता है (च्यवन होता है)।

पौरस्त्य, प्रतीच्य और उदीच्य (उत्तर) की वर्षा का साङ्केतिक वैदिक वर्णन पीछे किया जा चुका है। वर्षासम्बन्धी वैदिक ऋचा का भाष्य करते हुए सायण कहते हैं कि पौरस्त्य (पूर्वी), प्रतीच्य (पश्चिमी) और उदीच्य (उत्तरी) इस प्रकार के 3 तरह के मेघ सब तरफ वर्षा करवाते हैं। इसका आधुनिक मौसम विज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट होता है कि मेघ सबसे पहले वहीं (जहाँ से बादल उठते हैं वहीं) दक्षिण में वर्षा करवाते हुए पहले पश्चिमी तट की ओर जाते हैं तथा उसके बाद में पूर्व में बंगाल की खाड़ी से नमी प्राप्त करके उत्तर की ओर जाते हैं, ऐसा वर्तमान के वैज्ञानिक मानते हैं।

वहाँ दक्षिण में होने वाली वर्षा का निर्देश सम्भवतःइसलिए नहीं किया गया क्योंकि वहाँ से (दक्षिण से) गमन करती हुई हवाएं पश्चिम की ओर जाती हैं, अतः अपने स्थान दक्षिण पर वर्षा करने के कारण स्थानस्थित स्वरूप में होने के कारण सम्भवतः उनमें (हवाओं में) गमन का स्वरूप नहीं माना जाता है।

दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं को आकर्षित करने में उत्तरी गर्म हवाओं का ज्यादा योगदान होता है, अतः ये खिंची चली आती हैं। जब यह मानसून आता है तो सबसे पहले दक्षिण क्षेत्र में बरसता है, उसके बाद पश्चिम की ओर आगे बढ़ता है वहाँ से पूर्वोत्तर की ओर चलता है तो बंगाल की खाड़ी के कारण इसमें और नमी आ जाती है उत्तरी भारत में इसी से वर्षा होती है।

इस प्रकार से वृष्टि के वैदिक वर्णन में तथा आयुर्वेद की संहिताओं के वर्णन में एवं आधुनिक मौसम विज्ञान के वर्णन में पर्याप्त साम्य है।

संदर्भ ग्रंथ

1. *ऋग्वेद* सायणभाष्यसहित
2. *अथर्ववेद* सायणभाष्यसहित
3. *चरकसंहिता* आचार्य श्री यादवजी त्रिकमजी द्वारा संपादित चक्रपाणि टीकासहित
4. *चरकसंहिता* प्रथम खण्ड, प्रो. बनवारी लाल गौड़कृत एषणा हिंदीव्याख्यासहित
5. https://www.weather.gov/source/zhu/ZHU_Training_Page/clouds/cloud_development/clouds.htm
6. *Astangahrdayam* By Vagbhata (SUTRASTHAN). Translated in English by Dr. VISHWAVASU GAUR, published by Chaukhamba Orientalia, Varanasi, First Edition 2010
7. *स्वस्थवृत्तविवेचन*, लेखक- प्रो. बनवारी लाल गौड़ एवं डॉ. विश्वावसु गौड, प्रकाशक- साक्षी पब्लिशिंग हाउस जयपुर, प्रथम संस्करण 2011

1. बी.ए.एम.एस.,एम.डी. (आयुर्वेद)
असिस्टेंट प्रोफेसर, एम.जे. एफ. आयुर्वेद महाविद्यालय,
हाड़ोता , जयपुर, राजस्थान

2. (म.म. राष्ट्रपतिसम्मानित),
भिषगाचार्य, आयुर्वेद-बृहस्पति, एम.ए.(संस्कृत),
डिप्लोमा इन जर्मन, पीएच.डी. (आयुर्वेद) पूर्व कुलपति,
डॉ.एस. आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर
एवं पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

आवास—80 चम्बलमार्ग, सेन कॉलोनी,
प्रेमनगर, झोटवाड़ा, जयपुर-302012

मो. 9829077697

ब्रह्मविद्या वेदान्त के अधिकारित्व प्राप्ति हेतु त्याज्य एवं करणीय कर्मों का स्वरूप

डॉ. कपिल गौतम

प्रबन्धसार (Abstract)

भारतीय परम्परा धर्मविद्या एवं ब्रह्मविद्या का समान महत्त्व है। मूलरूप में धर्मविद्या (धर्म, अर्थ एवं काम) ही ब्रह्मविद्या (मोक्ष) का साधन है। *मुण्डकोपनिषद्* में इसे ही अपरा एवं परा विद्या कहा है। वह विद्या जो ब्रह्मन् (आत्मन्) रूप प्रमा का ज्ञान प्रमाण के रूप में करवाती है वह ब्रह्मविद्या कहलाती है। श्रुति-प्रस्थान (उपनिषद्) स्मृतिप्रस्थान(*श्रीमद्भगवद्गीता*) एवं न्यायप्रस्थान (*ब्रह्मसूत्र*) तीनो अपने साध्य के रूप में ब्रह्मन् का विधान करते हैं अतः तीनों सम्मिलित रूप से ब्रह्मविद्या कहे जाते है। शास्त्रों में किसी भी विशेष विद्या के अधिकारी के लिए विशेष योग्यताएं भी निर्धारित की गई हैं। इसी प्रकार शाङ्कर अद्वैत शास्त्र में भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी हेतु विशेष योग्यताएं निर्धारित की गई हैं। ब्रह्मविद्या का अधिकारी ऐसा प्रमाता होता है जो नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्व नामक साधनचतुष्टय से सम्पन्न हो। जिसने त्याज्य कर्मों का परित्याग कर लिया है एवं करणीयकर्मों का अनुष्ठान कर लिया है। क्योंकि ऐसा करने से कल्मष (पाप) दूर हो जाते हैं एवं अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। रागादिवासनारूप कल्मष की निवृत्ति का साधन है—नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित और उपासनाकर्मों का अनुष्ठान। परन्तु इन कर्मों का अनुष्ठान करने से मन के मल तब तक दूर नहीं होते, जब तक काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग न किया जाय। काम्यकर्म कामवासना से किए जाते हैं और कामवासना शुद्धि में साक्षात् बाधक बनती है। अभक्ष्यभक्षणादि निषिद्धकर्मों के करने से पाप होता है, जो अन्तःकरण की शुद्धि में बाधक बनता है। इसलिये काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके ही नित्यादिकर्मों निष्काम भाव से अनुष्ठान करना चाहिए। ब्रह्मविद्या के अधिकारी का क्या स्वरूप है? अधिकारी द्वारा त्याज्य एवं करणीय कर्मों का क्या स्वरूप, प्रकार एवं फल है? इन सब का विवेचन अत्यावश्यक है। प्रस्तुत शोधपत्र में ब्रह्मविद्या के अधिकारी के स्वरूपनिरूपण पूर्वक अधिकारी द्वारा त्याज्य एवं करणीय कर्मों स्वरूप एवं फल का विशद विवेचन किया गया है।

मूल शब्द (Key Words) कर्म, ब्रह्म, प्रस्थानत्रयी, अनुबन्ध, साधनचतुष्टय, प्रमाता, आपात, काम्य, निषिद्ध, नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना, चित्तशुद्धि, चित्तैकाग्र्य।

ब्रह्मविद्या वेदान्त

लक्ष्य की दृष्टि से वस्तुतः मुख्य रूप में विद्या द्विविध कही गई है—धर्मविद्या एवं ब्रह्मविद्या। धर्मविद्या जो धर्म (याग) को प्रधान मानकर कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करती है जिसे पूर्वमीमांसा कहते है – अथातो धर्मजिज्ञासा[1] और दूसरी विद्या ब्रह्मविद्या जो ब्रह्मन् (आत्मन्) को प्रधान मानकर ज्ञान का प्रतिपादन करती है जिसे उत्तरमीमांसा (वेदान्त) कहते है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।[2] अतः वह विद्या जो ब्रह्मन् (आत्मन्) रूप प्रमा का ज्ञान प्रमाण के रूप में करवाती है वह ब्रह्मविद्या कहलाती है। वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है जिसके तीन मूल आधार हैं—

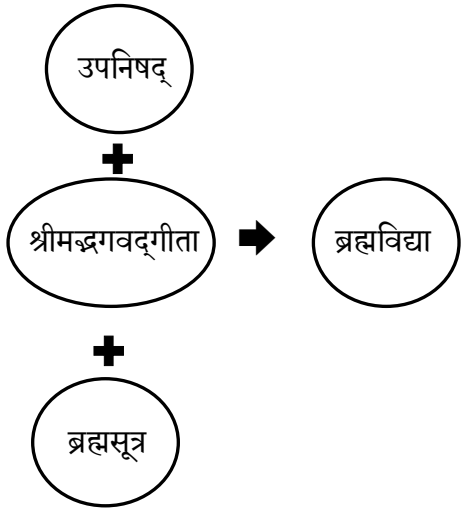

श्रुति–प्रस्थान – उपनिषद्

वेदों के अन्तिम भाग या ग्रन्थराशि उपनिषदों में इसके प्रतिपाद्य (ब्रह्म) का निरूपण होने के उपनिषद् को वेदान्त कहा जाता है। वस्तुतः वेदान्त का उत्स हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है इसलिए आचार्य शंकर ने अनेक स्थलों पर वेदान्त को औपनिषद दर्शन भी कहा है। उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति है—उप+नि+ षद्लृ (सद्)+क्विप् (विशरणगत्यावसादनेषु क्विप्)। उप का अर्थ समीप है। नि का अर्थ निश्चयपूर्वक है। तथा सद् धातु विशरण (हिंसा), गति और अवसादन (शिथिलीकरण), इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है। ये तीनों ही अर्थ यहाँ पर संगत होते हैं। 'उपनिषद्' पद से **ब्रह्मविद्या (आत्मविद्या)** बोध होता है, क्योंकि जब कोई वैराग्यसम्पन्न मुमुक्षु इस ब्रह्मविद्या के (उप) समीप जाकर (नि) निष्ठापूर्वक और निश्चय के साथ इसका अनुशीलन करता है, तो यह ब्रह्मविद्या—

(क) सबसे पहले उसकी 'संसार सार वस्तु है'इस बुद्धि को शिथिल (क्षीण) कर देती है **(अवसादयति)।**

(ख) फिर उसके जन्म–मरणरूप संसार चक्र के बीजभूत अज्ञान का विनाश कर देती है **(विशृणाति)**।

(ग) और अन्त में उसको परब्रह्म के पास पहुँचा देती है **(गमयति)**, अर्थात् ब्रह्मरूप बना देती है।

अत: मुख्य रूप से 'उपनिषत्' शब्द का प्रयोग ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या के लिए होता है, परन्तु इस विद्या के प्रमाणभूत ग्रंथों को भी गौणवृत्ति से उपनिषद् कहा जाता है।

स्मृतिप्रस्थान–श्रीमद्भगवद्गीता –

महर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत के भीष्मपर्व के 25 वें अध्याय से लेकर 42 वें अध्यायपर्यन्त कुल 18 अध्यायों वाला ग्रन्थभाग श्रीमद्भगवद्गीता कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीता की पुष्पिका में श्रीमद्भगवद्गीता के लिए उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या शब्द का प्रयोग किया है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता भी ब्रह्मविद्या ही है—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।[3]

न्यायप्रस्थान – ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र को न्यायप्रस्थान कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म को न्याय (तार्किक) शैली में निरूपित किया है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। महर्षि बादरायण ने इन्ही उपनिषदों के सिद्धान्तों को सूत्र के रूप में निबद्ध कर ब्रह्मसूत्र की रचना की जो अधुना वेदान्त का प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जाता है। आचार्य शंकर अपने भाष्य में कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रों में उपनिषद् वाक्य रूप कुसुमों ही ग्रन्थन किया गया है—**वेदान्तवाक्य-कुसुमग्रथनार्थत्वात् हि सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते।**[4] ब्रह्मसूत्र को शारीरकसूत्र भी कहा जाता है—

'शरीरमेव शरीरकं, तत्र भवो जीव: शारीरक:, स: सूत्र्यते याथातथ्येन यैस्तानि शारीरकसूत्राणि अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिनि' (विद्वन्मनोरञ्जनी), अर्थात कुत्सित होने के कारण शरीर को ही शरीरक कहते हैं। 'शरीर' शब्द में कुत्सार्थक 'क' तद्धितप्रत्यय लगकर 'शरीरकं' बनेगा। **'तत्र भव:'** सूत्र से अण् प्रत्यय लगकर 'शारीरक' बनेगा, जिसका अर्थ है—कुत्सित शरीर में निवास करने वाला जीवात्मा। उस जीवात्मा का सूत्रण, अर्थात यथार्थ स्वरूप का निरूपण, अर्थात ब्रह्मत्व का विचार, जिन **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** आदि सूत्रों के द्वारा किया जाता है, उनको शारीरकसूत्र (या ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र) कहते हैं।

ब्रह्मविद्या वेदान्त का अधिकारी

अनुबन्ध (अनु उपसर्ग+बन्ध् धातु +घञ् प्रत्यय)—जिसके ज्ञान से शास्त्र अथवा ग्रन्थके अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति वह अनुबन्ध कहलाता है – **पुरुषमनुबध्नाति स्वज्ञानेन प्रेरयतीत्यनुबन्धः।**[5] **अनुबध्यतेऽनेनेति अनुबन्ध:'** अर्थात् जिनके द्वारा ग्रन्थ आद्योपान्त बँधा रहता है, उसमें असम्बद्धता शिथिलता और दिशाहीनता नहीं आने पाती है, उन्हें अनुबन्ध कहते हैं। 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'बन्ध्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगकर अनुबन्ध शब्द बनता है। वेदान्त को कौन पढने योग्य है? वेदान्त में क्या पढाया

जाएगा? वेदान्त शास्त्र और अध्ययन योग्य विषय में क्या सम्बन्ध है? वेदान्त को पढने से क्या फल मिलेगा? ये चार वेदान्त के अनुबन्ध कहे गयें है। किसी शास्त्र के प्रारम्भ में अनिवार्य रूप से यह बताया जाना अपेक्षित है, उस शास्त्र का अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध—इन चारों के लिए 'अनुबन्ध' शब्द का प्रयोग किया जाता है।किसी शास्त्र के श्रवण में अध्येता (अधिकारी) तभी प्रवृत्त होता है, जब वह उस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय, प्रयोजन, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को सामान्यतया समझ लेता है, और उस शास्त्र के तात्पर्य को ग्रहण करने में अपनी योग्यता और सामर्थ्य (अधिकार) के विषय में आश्वस्त हो जाता है। ग्रन्थारम्भ के प्रयोजक होने के कारण ये उस ग्रन्थ के हेतु सिद्ध होते हैं। इसीलिए ग्रन्थ के आरम्भ में चार अनुबन्धों को बताया जाना आवश्यक है—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन—

ज्ञातार्थं ज्ञातं सम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
गन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

यह स्पष्ट हुआ कि अद्वैत वेदान्त का प्रयोजन ब्रह्म (आत्मन्) का ज्ञान है। परन्तु ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन है? आचार्य शंकर ने प्रथम ब्रह्मसूत्र अथातो ब्रह्मजिज्ञासा पर भाष्य करते हुए अधिकारी को स्पष्ट किया है। उक्त सूत्र में आचार्य शंकर ने अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य किया है—**अत्र अथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते।**[6] भाष्यकार यहाँ किस वस्तु की ओर निर्देश करना चाह रहे है जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा हो वह है—साधनचतुष्टय के अनन्तर—"उच्यते-नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासायाः तस्मात् अथ शब्देन साधन सम्पत्यानन्तरमुपदिश्यते।" अतः अथ शब्द से आशय है साधनचतुष्टय के अनन्तर। अर्थात् जो इन चार साधनों से युक्त है वही ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। *अपरोक्षानुभूति* नामक प्रकरण ग्रन्थ में आचार्य शंकर ने अधिकारी के लिए नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्व नामक चार साधनों की अपेक्षा की है—**साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्।**[7]

अद्वैत वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थ सदानन्दविरचित वेदान्तसार में ब्रह्मविद्या के अधिकारी का निरूपण निम्न प्रकार से किया है—**अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनाप्राततोऽधिगताखिल- वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन-निर्गतनिखिलकल्मषतया-नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता ॥**[8]

यहाँ अधिकारी के लिए चार अपेक्षाएँ बताई गयी हैं—

1. जिसने इस जन्म में अथवा पूर्व जन्म में वेदों और वेदांगों का विधिपूर्वक अध्ययन कर लिया है।
2. जिसने ब्रह्मविद्या के अर्थ को सामान्य रूप से समझ लिया है। नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासनाकर्मों का अनुष्ठान तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग तब तक नहीं होता जब तक

उनका ज्ञान न हो। जब तक वह वेद का अध्ययन न कर ले। विधिपूर्वक (उपनयन संस्कार तथा ब्रह्मचर्यादिनियम पूर्वक) वेदाङ्गों सहित (शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष) वेद (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्) का अध्ययन कर आपाततः वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर ले। **आपाततः का अर्थ है सामान्य ज्ञान या प्रारम्भिक ज्ञान या असुविचारित ज्ञान।** क्योंकि यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि वेदों का अखिल अर्थ का ज्ञान तो प्रमाता ने ग्रहण कर ही लिया है साथ ही वेदान्त (उपनिषद्) भी वेदों के अन्तर्गत ही आते है तो वेदान्त के अध्ययन की क्या आवश्यक्ता है। अर्थात् वेदाध्ययन काल में सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म आदि वाक्यों (उपनिषद् या वेदान्त) के अर्थज्ञान से ब्रह्म ज्ञान हो चुका तो पुनः वेदान्त का अध्ययन क्यों किया जाए ? इसलिए आपाततः शब्द यहाँ आया है। जिसका अर्थ है कि विधिपूर्वक वेदाङ्ग सहित वेदों के अर्थ का जो ज्ञान हुआ है वह सुविचारित ज्ञान नहीं है केवल आपात ज्ञान (सामान्य ज्ञान या प्रारम्भिक ज्ञान या असुविचारित ज्ञान है) है—**आपाततो विचारेणेदमित्थमेवेति पर्यवधारणमन्तरेणाधिगतः।**[9] अर्थात् आपात ज्ञान से आशय ऐसा ज्ञान जो विचार से युक्त निश्चयज्ञान रहित है। अतः समस्त वेदार्थ का ज्ञान हो जाने पर वेदान्त निरर्थक ना हो जाए इसीलिए यहाँ आपाततः शब्द आया है—**अत्र सर्ववेदार्थरहस्ये ज्ञाते सत्युत्तरग्रन्थवैयर्थ्य परिहाराय आपातत इत्युक्तम्।**[10]

3. जिसने त्याज्य कर्मों (काम्य और निषिद्ध) का परित्याग कर लिया है एवं जिसने नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासना कर्मों का अनुष्ठान कर लिया है क्योंकि ऐसा करने से कल्मष (पाप) दूर हो जाते हैं एवं अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। रागादिवासनारूप कल्मष की निवृत्ति का साधन है—नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित और उपासनाकर्मों का अनुष्ठान। परन्तु इन कर्मों का अनुष्ठान करने से मन के मल तब तक दूर नहीं होते, जब तक काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग न किया जाय। काम्यकर्म कामवासना से किए जाते हैं और कामवासना शुद्धि में साक्षात् बाधक बनती है। अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्धकर्मों के करने से पाप होता है, जो अन्तःकरण की शुद्धि में बाधक बनता है। इसलिये काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके ही नित्यादिकर्मों निष्काम भव से अनुष्ठान करना चाहिए।

4. जो नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्व नामक साधनचतुष्टय से सम्पन्न है, ऐसा प्रमाता। यथार्थ ज्ञान के आधार पर या प्रमाणों के द्वारा लौकिक और वैदिक व्यवहार का सम्पादन करने वाला जीव। यदि लौकिक और वैदिक व्यवहार में अभ्रान्त जीव यह न कहकर केवल जीव ही प्रमाता हो तो उसमें भ्रम के कारण वेदान्तशास्त्र में प्रवृति कहाँ से होगी—**लौकिक वैदिक व्यवहारेष्वभ्रान्तो जीवः एव प्रमातेह विवक्षितः। जीवमात्रस्य पक्षे भ्रमसम्भवेन शास्त्रप्रतिपत्तृत्वायोगात्।** *विद्वन्मनोरंजनी।* नृसिंह सरस्वती अपनी टीका *सुबोधिनी* में प्रमाता का अर्थ—अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य -**अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितं चैतन्यम्।** आपदेव अपनी टीका *बालबोधिनी* में प्रमाता का अर्थ करते हैं—सदाचार से युक्त ब्राह्मणादिपरक—**अत्र प्रमातृशब्दः सदाचारयुक्त ब्राह्मणादिपरः।** परन्तु वेदान्त विद्या का अधिकार प्राप्त करने लिए केवल प्रमाता होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु साधनचतुष्टयसम्पन्न होने पर वेदान्त का अधिकारी हो सकता है

त्याज्य कर्म

अधिकारी वह है जिसने त्याज्य कर्मों (काम्य और निषिद्ध) का परित्याग कर लिया है। यहाँ त्याज्य कर्मों के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है—

त्याज कर्म दो प्रकार के हैं—

(1) **काम्य कर्म—कामाय हितानि काम्यानि।** परलोक में स्वर्ग तथा लोक में पुत्र, कलत्र, धन, धान्य आदि मनुष्य को काम्य हैं। अतः काम्य उन कर्मों को कहा जाता है जिनका विधान किसी फल की कामना के लिए किया जाता है। **'फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि'।**[11] फल प्राप्ति की कमाना से किए जाने वाले कर्म काम्यकर्म कहलाते हैं। यही काम्यकर्म का लक्षण है, स्वर्गादि की प्राप्ति तो उनका फल है। उदाहरण के लिए **ज्योतिष्टोम यज्ञ – ज्योतिंषि स्तोमा यत्र।** अर्थात् चार प्रकार के ज्योतिष नामक स्तोम (सामगान) जहाँ प्रयुक्त हों उस सोमयज्ञ को ज्योतिष्टोम कहते है। सोमयाग अर्थात् सोम नामक लतारूप द्रव्य प्रधान होने से वैदिक यज्ञ को सोमयाग कहा जाता है। वस्तुतः ज्योतिष्टोम एक प्रकार का सोमयाग है। *सामवेद* के मन्त्रों से की जाने वाली स्तुति को स्तोम कहते है। ऐसी स्तुतियों में त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश और एकविंश—इन चार को सम्मिलित रूप से ज्योतिष। अतः इन चारों स्तुतियों से युक्त सोमयाग को ज्योतिष्टोम कहा जाता है। ज्योतिष्टोम को स्वर्ग का साधक माना गया है। स्वर्ग से आशय है—स्वः गम्यते यत्र अर्थात् वह विशेष स्थान जहाँ ऐसे स्वः-विलक्षण सुख की प्राप्ति होती है जो बिना प्रयास संकल्प (विचार) कर लेने मात्र से प्राप्त होता है तथा जो आदि, मध्य एवं अन्त में कभी दुःख से युक्त नहीं होता वह स्वर्ग कहलाता है—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोऽपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम् ॥[12]

(2) **निषिद्ध कर्म**—जिसका निषेध किया गया है वह कर्म निषिद्ध कहलाता है **'भ्रमावगतेष्टसाधनानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि'।**[13] अर्थात भ्रम के कारण मनुष्य जिन कर्मों को अपने अभीष्ट का साधक समझ बैठता है, परन्तु वस्तुत: जो अनिष्टकारक हैं; तथा वेदों में निषेधार्थक 'नञ्' से सम्बद्ध **'ब्राह्मणो ना हन्तव्य:'** इत्यादि वाक्यों के द्वारा जिनका बोध होता है, उन समस्त कर्मों को निषिद्ध समझना चाहिए।

ब्रह्महत्या सुरापानं ततो गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गाश्चापि तैः सह ॥[14]

नरक—कुत्सितो नरो यस्मात्। जिससे मनुष्य कुत्सित हो जाता है। मनुष्य को कुत्सित करने वाला होता है सुख हीन दुःख और उस दुःख भोग का स्थान नरक कहलाता है।

करणीय कर्म—ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए अधिकारी को किन कर्मों करना चाहिए ? ऐसे करणीय कर्मों के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है—

करणीय कर्म अधोलिखित चार प्रकार के हैं—

1. **नित्य कर्म—यद् अकरणे प्रत्यवायं जनयति।**[15] जिनके न करने से पाप उत्पन्न होता है। नित्यकर्मों को करने से कोई पुण्य नहीं होता है, परन्तु न करने से पाप बढ़ता जाता है। इसलिए नित्यकर्म अवश्यकरणीय हैं। वस्तुत: नित्यकर्म प्रतिदिन अनजान में होने वाले पापों का विनाश करने के लिए किए जाते हैं।

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥[16]

अर्थात् चूल्हा, चक्की, झाड़ू-बुहारी, उखली-मूसल और पानी का घड़ा—इन पाँच स्थानों में गृहस्थों के द्वारा अनजान में हिंसा होती रहती है। इस हिंसा के कारण इन वस्तुओं को अपने लिए उपयोग में लाते समय मनुष्य पाप से सम्बद्ध होता है—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥

अर्थात 'क्रम से इस पाँच वधस्थानों में होने वाले पापों से छुटकारा पाने के लिए गृहस्थों के लिए प्रतिदिन पाँच महायज्ञों की व्यवस्था महर्षियों द्वारा की गई है। अध्ययन और अध्यापन को **ब्रह्मयज्ञ**, तर्पण को **पितृयज्ञ**, अग्नि में किए जाने वाले होम को **देवयज्ञ**, प्राणियों के लिए दी जाने वाली (बलिवैश्वदेव) को **भूतयज्ञ** और अतिथिसत्कार को **मनुष्ययज्ञ** कहते हैं। जो मनुष्य इन पञ्चमहायज्ञों का यथाशक्ति परित्याग नहीं करता है, वह गृह में निवास करता हुआ भी इन पञ्चस्थानीय हिंसाओं के पाप से लिप्त नहीं होता है।'

2. **नैमित्तिक कर्म—'निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्त्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि'।**[17] अर्थात किसी निमित्त को प्राप्त करके अवश्यकरणीयरूप से जो कर्म वेदों के द्वारा विहित किए गए हैं, उन्हें निमित्तजन्य होने के कारण नैमित्तिक कहते हैं। जातेष्टि एक लघु यज्ञ है जो पुत्र के उत्पन्न होने पर किया जाता है। जातेष्टि का विधायक वाक्य है—**वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते।** अर्थात् पुत्र के उत्पन्न होने पर वैश्वानर को द्वादश कपाल (गहरे तवे जैसा मिट्टी का पात्र) में पुरोडाश (जौ के आटे की रोटी) प्रदान करे। जातेष्टि यज्ञ पुत्र के जन्म के निमित्त होने से नैमित्तिक कर्म कहलाता है।

3. प्रायश्चित्त कर्म—प्रायस्तुष्टं चित्तं यत्र तत् प्रायश्चित्तं। यहाँ मध्यमपदलोपी समास है। प्रकृष्ट अयस्—कठोर लौह यह लौह के समान कठोर तप का लक्षक है। जहाँ कठोर तप से चित्त सन्तुष्ट होता है वह व्रत प्रायश्चित्त कहलाता है।

प्रमाद मनुष्य का स्वभाव है जिसके कारण उससे विहित कर्मों का त्याग तथा निषिद्ध कर्मों का आचरण होता रहता है। उनसे उत्पन्न पापों से मनुष्य का मन मलिन होकर मुक्ति की ओर उन्मुख नहीं हो पाता अतः इन पापों के नाश के लिए जो कर्म किया जाए वह प्रायश्चित्त कर्म कहलाता है—

अकुर्वन् विहितं कर्मं निन्दितं च समाचरन्
प्रसक्तश्चान्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥[18]

अर्थात् विहित कर्म को न करने वाला तथा निन्दित कर्म को करने वाला तथा इन्द्रियों के विषयो में आसक्त रहने वाला मनुष्य प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

'**विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि**'[19] अर्थात् विहित कर्म को न करने से और निषिद्ध कर्म को करने से जो पाप उत्पन्न होता है, उस पाप का विनाश करने के विशेष निमित्त से किए जाने वाले कर्मों को प्रायश्चित कहते हैं। जैसे चान्द्रायण आदि व्रत। चान्द्रायण एक लोकप्रसिद्ध प्रायश्चित्तव्रत है। **चान्द्रम् अयनं यस्य तत् चान्द्रायणम्।** इस व्युत्पत्ति के अनुसार चन्द्रतुल्यगति से युक्त। जिस व्रत की क्रिया चन्द्रमा की गति के विकास तथा ह्रास का अनुगमन करती है वह चान्द्रायण व्रत कहलाता है। चान्द्रायण व्रत के क्रिया के सन्दर्भ में मनुस्मृति में कहा गया है –

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशन् त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥[20]

पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास खाकर कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास प्रतिदिन घटाना चाहिए। घटाते-घटाते चतुर्दशी को एक ही ग्रास खाना चाहिए और अमावस्या को पूर्ण उपवास करके शुक्लपक्ष में क्रमशः एक-एक ग्रास प्रतिदिन बढ़ाकर पौर्णमासी को पन्द्रह ग्रास खाने चाहिए। व्रतकाल में प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन वार स्नान करना चाहिए। इसे चान्द्रायण व्रत कहते है। यद्यपि *मनुस्मृति* के टीकाकार कुल्लुक भट्ट इसे चान्द्रायण व्रत का एक प्रकार पिपीलिकामध्य चान्द्रायण कहते है। *मनुस्मृति* में यह चार प्रकार का बताया गया है—(1) पिपीलिकामध्य चान्द्रायण, (2) यवमध्य चान्द्रायण, (3) यतिचान्द्रायण और (4) शिशुचान्द्रायण।

4. उपासना कर्म—उप समीपे आस्यते स्थीयते अनेन इत्युपासनम्। वह कर्म जिसके द्वारा उपास्य उपासक के समीप अवस्थित जाए। समीप अवस्थित होने से आशय है—उपासक का उपास्य के स्वरूप में स्थैर्य लाभ।

शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालादेरनैरन्तर्योपेतमनोवृत्तिस्थिरीकरणलक्षणानि उपासनानि।[21]

शास्त्र के द्वारा बोधित (ज्ञेय) सगुण ब्रह्म में दीर्घकाल एवं निरन्तरता से मानस व्यापार को स्थिर करना उपासना कहलाती है। ज्ञान से भेद दिखाने के लिए उपासना को **'मानसव्यापार'** कहा गया है। मानसिक व्यापार का अर्थ है **'ध्यान'**। ध्यान करना, या न करना, या किसी अन्य विधि से करना पुरुष की इच्छा के अधीन होता है। परन्तु ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर अवलम्बित होता है, अत: ज्ञान का करना, न करना या अन्यथा करना आदि विकल्प सम्भव नहीं हो सकते हैं। ज्ञान न तो पुरुष के अधीन है और न विधि वाक्यों के। उपासना या ध्यान विधिवाक्यों के अनुसार ही होता है और पुरुष उसे करने में स्वतन्त्र होता है। जैसे **'पुरुषो वाव गौतमाग्नि:'** इत्यादि विषयों के अनुसार स्त्री या पुरुष में अग्नि की भावना करना मानसिक व्यापार अथवा ध्यान अथवा उपासना है, परन्तु लोकप्रसिद्ध अग्नि में अग्नि का ज्ञान होना, न तो किसी क्रियाविधि के अधीन है और न पुरुष की इच्छा पर अवलम्बित है। यही ज्ञान है।[22] ज्ञान और उपासना यही भेद आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य (1/1/4) में प्रदर्शित किया है। अद्वैत वेदान्त में उपासना कर्म के रूप उदाहरणस्वरूप शाण्डिल्यविद्या को प्रस्तुत किया गया है। शाण्डिल्यविद्या से आशय है—महर्षि शाण्डिल्य के द्वारा उपदिष्ट विद्या। इस विद्या का निरूपण छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार वर्णित हुई है—

सर्वखल्विदं ब्रह्म तज्ज्लानीति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय: पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्बीत"।[23]

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है क्योंकि यह तज्जलान् है। तज्जलान् का अर्थ है—तज्ज, तल्ल और तदन्। यहाँ तत् का अर्थ है—ब्रह्म। तज्ज—यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है। तल्ल—उसी में लीन होता है। तदन्—उत्पत्ति तथा लय के मध्यकाल वर्तमान काल में ब्रह्म में जीवित रूप से सक्रिय रहता है। अतः जगत् भूतकाल—उत्पत्तिकाल में, वर्तमान काल—स्थिति काल में तथा भविष्य काल—लय काल में ब्रह्म से पृथक् नहीं रहता। अतः शान्त भाव से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। यह उपासना जो बतायी गई है ब्रह्म का क्रतु (निश्चय) करने से सम्भव हो सकती है। क्यों जीव क्रतुमय अर्थात् निश्चयवान् है। वह जैसा निश्चय इस लोक में करता है वैसा ही मृत्यु के बाद होता है। जब क्रतु के अनुरूप ही फल प्राप्त प्राप्त होना है अतः उसे क्रतु (ब्रह्म के निश्चय) के अनुसार उपासना करनी चाहिए।

सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यादनादर एष य आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमित: प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्य:।[24]

सगुणब्रह्म के विषय में इस प्रकार निश्चय करना चाहिए—'जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इन सबको सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाग्रहित और सम्भ्रमशून्य है, वह मेरा आत्मा हृदयकमल के मध्य में स्थित है। यही ब्रह्म है। इस शरीर से मरकर जाने पर मै इसी को प्राप्त होऊँगा। ऐसा जिसका निश्चय है और जिसे इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं है, (वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है) ऐसा शाण्डिल्य ने कहा है।

शाण्डिल्य विद्या आदि को उपासना बताते हुए अन्य उपासना कर्म के रूप में **दहर विद्या, वैश्वानर विद्या** इत्यादि उपासनात्मक अन्य विद्याओं की ओर संकेत किया है—**आदिशब्दाद्दहरवैश्वानरादि विद्यान्तरग्रहः।**[25] इन विद्याओं का निरूपण *छान्दोग्य उपनिषद्* के अष्टम अध्याय में किया गया है।

अधिकारी द्वारा प्रयोज्य करणीय कर्मों का फल

इस प्रकार हमने अभी तक हमने त्याज्य तथा करणीय कर्मों के बारे में जाना। अद्वैतवेदान्त त्याज्य कर्मों का फल तो पाप रूप होने से विदित है परन्तु करणीय कर्मों की क्या उपयोगिता है ? सदाननदयोगीन्द्र ने *वेदान्तसार* में नित्यादि करणीय कर्मों के अनुष्ठान करने से जिस 'फल' की प्राप्ति होती है, उसका ग्रन्थकार निरूपण करते हैं—

मुख्य फल

नित्य नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त कर्मों के अनुष्ठान का मुख्य फल चित्तशुद्धि है। इसी का समर्थन करने वाली **"तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन"**[26] इत्यादि श्रुति और **'तपसा कल्षमं हन्ति'**[27] यह स्मृति ग्रन्थकार ने उद्धृत की है। ब्राह्मण वेदाध्ययन एवं यज्ञानुष्ठान से आत्मा की विविदिषा (जानने की इच्छा) करे। वेत्तुम् इच्छा—जानने की इच्छा। परन्तु आत्मा को जानने की इच्छा तभी होगी जब चित्त शुद्ध होगा। चित्त शुद्धि हो जाने पर ही विविदिषा होगी। जिस प्रकार जब तक दर्पण से धूल नहीं हटती तब तक स्वच्छ प्रतिबिम्ब दर्पण में नहीं नहीं बनेगा। वेदाध्ययन एवं यज्ञानुष्ठान से राग द्वेष आदि मलों के हटने से चित्त शुद्ध होगा और उसमें आत्मा की विविदिषा उत्पन्न होगी।

> **एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं। "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि श्रुतेः "तपसा कल्मषं हन्ति" इत्यादि स्मृतेश्च।**[28]

इस नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्मों का परम प्रयोजन चित्त की शुद्धि है, परन्तु उपासनाओं का परम प्रयोजन चित्त की एकाग्रता है। "उस (उपनिषदों में प्रसिद्ध) इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय यज्ञ (दान और निष्काम तप) के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं" (बृहदा. 4/422) इस श्रुति के अनुसार। और "तप के द्वारा (ब्राह्मण) पाप का विनाश करता है" (मनु. 12/104) इस स्मृति के अनुसार (नित्यादि कर्मों के द्वारा पाप का विनाश होकर चित्त शुद्ध होता है)।

उपासना का परमफल या मुख्य फल चित्त की एकाग्रता है, इसका प्रतिपादन करने वाला कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। टीकाकारों ने भी नित्यादि कर्मों द्वारा चित्तशोधन को ही अन्य वाक्यों का उद्धरण देकर पुष्ट किया है, परन्तु उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता पोषक एक भी वाक्य उद्धृत नहीं किया है, वस्तुतः उपासनाओं का फल शंकराचार्य *छान्दोग्योपनिषद्भाष्य* की भूमिका के अनुसार कर्मफल की समृद्धि करना तथा

लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय का आपादन करना है। उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी उपासनाओं के ये ही प्रयोजन बताए हैं—

तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचिद् क्रममुक्त्यर्थानि,कानिचिद् कर्म समृद्ध्यर्थानि।[29]

अर्थात 'ब्रह्म की कुछ (नामब्रह्म आदि) उपासनाएँ अभ्युदय के लिए हैं, कुछ (दहरादि उपासनाएँ[30]) क्रम मुक्ति के लिए हैं, और कुछ (उद्गीथादी उपासनाएँ) कर्मफल की समृद्धि के लिए हैं। चित्त की एकाग्रता तो उपासना का स्वरूप है, ऐसा उनका मत है, देखिए –

उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन्समानचित्तवृत्तिसन्तानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययान्तरितमिति।[31]

अर्थात 'उपासना तो शास्त्रसम्मत किसी आलम्बन को ग्रहणकर उसमें, विजातीय प्रत्ययों के व्यवधानों से रहित, सजातीय चित्तवृत्तियों को प्रवाहित करना है।'

श्रीमत्सदानन्द ने यहाँ पर जो चित्त की एकाग्रता को उपासना का फल कहा है, यह भी सर्वथा संगत है और शंकराचार्य के वाक्यों से इसका कोई भी विरोध नहीं है। उपासना प्राय: सकामबुद्धि से ही की जाती है। शंकराचार्य ने सकामभाव से की जाने वाली उपासनाओं के फलों का निर्देश किया है। अभ्युदय और कर्मसमृद्धि आदि उसके फल नहीं हो सकते, क्योंकि निष्काम उपासक को ये वस्तुएँ अनित्य होने के कारण अभीष्ट नहीं हैं। इसलिए उसकी उपासना का तात्कालिक और परम फल चित्त का स्थैर्य ही होगा। अत: निष्काम उपासक के लिए चित्त में सदृश प्रत्ययों को प्रवाहित करने का प्रयास उपासना का स्वरूप है और चित्त का समाहित हो जाना उपासना का फल है। वस्तुतः उपासना का मुख्य फल ब्रह्मज्ञान है, परन्तु शांकरवेदान्त के अनुसार ब्रह्मज्ञान किसी भी कायिक वाचिक या मानसिक क्रिया का कार्य या फल नहीं हो सकता है। ज्ञान जन्य नहीं है, नित्य है, इसलिए वह क्रिया का कार्य या फल नहीं हो सकता है। इत्यादि कर्मों का अनुष्ठान करने से जब चित्त शुद्ध हो जाता है और उपासना से एकाग्र हो जाता है, तो अज्ञानावृत ब्रह्मज्ञान, अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से, ग्रीवास्थग्रैयवेयकन्याय से आविर्भूत हो जाता है। *नैष्कर्म्यसिद्धि* में नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान से लेकर ब्रह्मज्ञानपर्यन्त साधक को जिन जिन भूमियों से गुजरना होता है, उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेः पापहानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः
संसारयाथात्म्यबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षुत्वं ततस्तदुपायपर्येषणं ततः
सर्वकर्मसंन्यासस्ततो योगाभ्यासस्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता
ततस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मन्यवस्थानमिति।[32]

अवान्तरफल

नित्यादि कर्मों के दो फल है—मुख्य फल और एक अवान्तर फल। जैसे आम के पेड़ से फल के साथ साथ शीतल छाया और सुरभि गन्ध भी प्राप्त होती है, अर्थात आम्रवृक्ष लगाने का मुख्यफल है, फलों को प्राप्त करना, और अवान्तरफल है, छाया तथा सुगन्ध की प्राप्ति; उसी प्रकार नित्यनैमित्तिककर्मों का मुख्यफल चित्त की शुद्धि है, और अवान्तरफल पितृलोक की प्राप्ति है। इसी प्रकार उपासना का मुख्यफल चित्त की एकाग्रता है, और अवान्तरफल सत्यलोक की प्राप्ति है। अवान्तर का अर्थ है प्रासंगिक या आनुषङ्गिक अर्थात गौण।

नित्यनैमित्तिकयोः उपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः "कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः" इत्यादिश्रुतेः ॥[33]

(नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अवान्तर- (आनुषङ्गिक) फल पितृलोक की प्राप्ति है, तथा उपासना का अवान्तरफल सत्य लोक की प्राप्ति है, "कर्म से पितृलोक और विद्या (उपासना) से सत्यलोक (जितने योग्य) है" (बृहदा. 1/5/16) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार।)

कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः[34]—कर्म से पितृलोक और विद्या (उपासना) से सत्यलोक (जितने योग्य) है। यहाँ बताया गया है कि तीन लोक है—मनुष्य लोक, पितृलोक एवं देवलोक। मनुष्य लोक पुत्र (सन्तान) के द्वारा जीतने योग्य है कर्म अथवा विद्या से नहीं। क्योंकि मृत्यु के पश्चात् सन्तान के रूप में वह मनुष्य लोक में जीवित रहता है। पितृलोक कर्म द्वारा जीतने योग्य है पुत्र अथवा विद्या से नहीं क्योंकि मृत्यु के पश्चात् वह शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान से पितृलोक प्राप्त करता है। देवलोक विद्या द्वारा जीतने योग्य है पुत्र अथवा कर्म से नहीं क्योंकि मृत्यु के पश्चात् वह शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान से देवलोक को प्राप्त करता है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्मविद्या के अधिकारी द्वारा प्रयोज्य करणीय कर्मों के मुख्य एवं अवान्तर फल का सम्यक् विवेचन किया गया है।

उपसंहार

भारतीय चिन्तन परम्परा में अभ्युदय (धर्म, अर्थ एवं काम) की प्राप्ति हेतु कर्मविद्या एवं निश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हेतु ब्रह्मविद्या का विधान किया गया है। ब्रह्मविद्या का अधिकारी ऐसा प्रमाता स्वीकार किया गया है जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न हो—नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्व। इसी के साथ ब्रह्मविद्या के अधिकारी द्वारा कतिपय त्याज्य एवं करणीय कर्मों का भी विधान किया गया है। त्याज्य कर्म दो प्रकार के है—काम्य और निषिद्ध। करणीय कर्म चार प्रकार के हैं—नित्य कर्म नैमित्तिक कर्म, प्रायश्चित्त कर्म तथा उपासना कर्म। त्याज्य कर्मों (काम्य और निषिद्ध) का परित्याग किया जाना चाहिए एवं जिसने नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासना कर्मों का अनुष्ठान किया जाना चाहिए

क्योंकि ऐसा करने से कल्मष (पाप) दूर हो जाते हैं एवं अन्त:करण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। रागादिवासनारूप कल्मष की निवृत्ति का साधन है—नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित और उपासनाकर्मों का अनुष्ठान। परन्तु इन कर्मों का अनुष्ठान करने से मन के मल तब तक दूर नहीं होते, जब तक काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग न किया जाय। काम्यकर्म कामवासना से किए जाते हैं और कामवासना शुद्धि में साक्षात् बाधक बनती है। अभक्ष्यभक्षणादि निषिद्धकर्मों के करने से पाप होता है, जो अन्त:करण की शुद्धि में बाधक बनता है। इसलिये काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके ही नित्यादिकर्मों निष्काम भव से अनुष्ठान करना चाहिए। नित्यादि कर्मों के दो फल है—मुख्य फल और एक अवान्तर (आनुषङ्गिक/गौण) फल। जैसे आम के पेड़ से फल के साथ साथ शीतल छाया और सुरभि गन्ध भी प्राप्त होती है, अर्थात आम्रवृक्ष लगाने का मुख्यफल है, फलों को प्राप्त करना, और अवान्तरफल है, छाया तथा सुगन्ध की प्राप्ति; उसी प्रकार नित्यनैमित्तिककर्मों का मुख्यफल चित्त की शुद्धि है, और अवान्तरफल पितृलोक की प्राप्ति है। इसी प्रकार उपासना का मुख्यफल चित्त की एकाग्रता है, और अवान्तरफल सत्यलोक की प्राप्ति है।

इस प्रकार चित्त शुद्धि एवं चित्त की एकाग्रता होने पर अधिकारी ब्रह्मविद्या का पात्र बनता है। इस प्रकार शोधपत्र में सम्यक्तया ब्रह्मविद्या के अधिकारी के स्वरूपनिरूपण पूर्वक अधिकारी द्वारा त्याज्य एवं करणीय कर्मों स्वरूप एवं फल का विशद विवेचन किया गया है।

सन्दर्भग्रन्थ सूची

- शुक्ल, बदरीनाथ (व्या.), *वेदान्तसार* (विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित), मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2009.
- मुँसलगांवकर, गजाननशास्त्री, *वेदान्तसार* (सारबोधिनी संस्कृत एवं विमला हिन्दी टीका सहित), चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2016.
- मिश्र, सच्चिदानन्द, *वेदान्तसार* (बालबोधिनी टीका सहित) दक्षिणामूर्ति मठ, वाराणसी, 2010.
- श्रीवास्तव, सत्यनारायण (व्या.). *वेदान्तसार*, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2018.
- शर्मा, राममूर्ति (व्या.), *वेदान्तसार*-सदानन्द, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2001.
- *छान्दोग्योपनिषद्*, (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, दसवाँ संस्करण सं0 2058.
- *बृहदारण्यकोपनिषद्*, (सानुवाद शाङ्करभाष्यार्थ), गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2063
- *नैष्कर्म्यसिद्धि*, सम्पा. कर्नल जी. ए. जैकोब (ज्ञानोत्तम मिश्र कृत चन्द्रिका सहित),चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1992.
- *ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य* (रत्नप्रभा टीका सहिता), अनु. यतिवर श्री भोलेबाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004 .

- *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्*-भामती-पंचपादिका-विवरण-तत्त्वदीपन-विवरणप्रमेयसंग्रह-ऋजुप्रकाशिका-नारायण सरस्वती कृत वार्तिक- नवीन टिपण्णी प्रदीप व्याख्योपव्याख्यानवकोपेतम्, संस्कृतभूमिका, सूचियत्रादिसमेतम्, म. म. श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2008.
- शास्त्री, मनोहरलाल, *तन्त्रवार्तिक* (कुमारिलभट्ट कृत), सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 2002.
- गोयन्दका, जयदयाल (अनु.), *श्रीमद्भगवद्गीता* (शांकरभाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर, 2020.
- आचार्य, शिवराज, *मनुस्मृति*, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 2013
- दशोरा, नन्दलाल, *अपरोक्षानुभूति* (शंकराचार्यकृत), रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, 2014.
- शेखावत, महेन्द्र, *आधुनिक चिन्तन में वेदान्त*, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1986.
- शर्मा, उर्मिला, *अद्वैत वेदान्त में तत्त्व एवं ज्ञान*, छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1994.
- स्वामी, रंगनाथानन्द, *उपनिषदों का सन्देश*, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2011
- राधाकृष्णन, *उपनिषदों का संदेश*, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1951.
- रानाडे, आर.डी, *उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण*, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1971.
- कर्नल जैकब, जी. ए. (सम्पा.), *वेदान्तसार* (सुबोधिनी एवं विद्वन्मनोरञ्जिनी टीका सहित), चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2013.

सन्दर्भ

1. *जैमिनीसूत्र,* 1/1/1
2. *ब्रह्मसूत्र,* 1/1/1
3. *श्रीमद्भगवद्गीता,* प्रथम अध्याय पुष्पिका
4. *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य,* (1/1/2)
5. *बालबोधिनी,* (आपदेवकृत) पृ. 12
6. *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य,* 1/1/1
7. *अपरोक्षानुभूति* (शंकराचार्यकृत), पृ. 18
8. *वेदान्तसार* (सदानन्दयोगीन्द्रकृत), पृ. 20
9. *विद्वन्मनोरञ्जनी,* पृ. 18
10. *सुबोधिनी,* पृ. 16
11. *विद्वन्मनोरञ्जनी,* पृ. 24
12. *तन्त्रवार्तिक,* 1/1/4
13. *विद्वन्मनोरञ्जनी,* पृ 34
14. *मनुस्मृति,* (11/54)

15. *बालबोधिनी,* पृ0 40
16. *मनुस्मृति,* 3/68
17. *विद्वन्मनोरञ्जनी,* पृ0 56
18. *मनुस्मृति,* 11/44
19. *विद्वन्मनोरञ्जनी*, पृ0 63
20. *मनुस्मृति,* 11/216
21. *विद्वन्मनोरञ्जनी*, पृ. 64.
22. *ब्रह्मसूत्रभाष्यशांकरभाष्य* ,1।1।4.
23. *छान्दोग्योपनिषद्* ,3/14/1.
24. *छान्दोग्योपनिषद्*, 3/14/4.
25. *विद्वन्मनोरंजनी*, पृ. 65.
26. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 4.4.22.
27. *मनुस्मृति,* 12/104.
28. *वेदान्तसार,* पृ. 34
29. *छान्दोग्योपनिषद्*, 1/1/11
30. *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य,* (1/1/4)
31. *छान्दोग्योपनिषद्* - शांकरभाष्य उपोद्घात
32. *नैष्कर्म्यसिद्धि,* 1/52.
33. *वेदान्तसार*, पृ0 33.
34. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 1/5/16.

सहायक-आचार्य
संस्कृत विभाग, मानविकी एवं समाजविज्ञान विद्यापीठ,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा,राजस्थान
kapilg2008jnu@gmail.com
चलवाणी—9672199658

वैदिक परम्परा में संसृतिचक्र के प्रवर्तन की समीक्षा

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

श्रीमद्भगवद्गीता सार्वभौम सनातन शास्त्र है। इसकी महत्ता विश्वविदित एवं सर्वमान्य है, अतः इसके गौरव के प्रतिपादन की कोई विशेष आवश्यकता न होने पर भी गीता महात्म्य के सम्बन्ध में पुराण प्रतिपादित एक श्लोक का उद्धरण प्रस्तुत है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः श्रिता।।

अर्थात् सृष्टि के उद्भवकर्ता भगवान् श्रीपद्मनाभ श्रीकृष्ण के मुख से लोकहित हेतु उपदिष्ट गीता को भलीभाँति हृदयंगम कर आचरण में उतार लेने मात्र से ही लोक में माया जनित व्याप्त तापत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। अन्य शास्त्रों के विस्तारपूर्वक अध्ययन की अपेक्षा ही क्या? ये उक्ति गीता के सरल प्रतीत हो रहे संस्कृत पदार्थों के सिद्ध, पर बिना गुरुवचनों की सहायता के न सध करने वाले सरल किन्तु जटिल सिद्धान्तों के गौरव की ओर इंगित करता है। गीता में सारे वेदान्त सिद्धान्त जो परम लोकहितकारी हैं, वे वर्णित हैं। ज्ञान की साधक हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वेद सिद्धान्त कहते हैं—'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' अर्थात् जीव के जीवन के चरमपुरुषार्थ मोक्ष की उपलब्धि बिना ज्ञान के नहीं होती। ज्ञानप्रतिपादिका हमारी चक्षुरादि इन्द्रियाँ सीमित हैं, उनसे सीमित ही ज्ञान मिलता है। उस ज्ञान से वह तत्त्व नहीं सधता जिसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में कहा जाता है। उस ज्ञान की उपलब्धि हेतु हमें वेदों की ओर जाना पड़ता है। कहा भी कहा है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

अर्थात् लौकिक ज्ञान साधक इन्द्रियों से जो ज्ञान नहीं हो पाता उस अपूर्व ज्ञान के साधक वेद ही बनते हैं। यही वेदों का वेदत्व है। परम्परा कहती है सम्पूर्ण की उत्पत्ति ज्ञान से हुई, ज्ञान ही ब्रह्म है। ब्रह्मवाक्य भी कहते हैं—**'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'**। जब सृष्टि की सत्ता विशृंखल आचार से शिथिल होने लगती है तो परमात्मा भगवान् के रूप में उसे सम्भालने के लिए धराधाम पर अवतार लेते हैं, वस्तुतः वे श्रुतियों के पालनकर्ता ही हैं।

श्रीरामचरितमानस में एक बड़ा रोचक प्रसंग आता है—भगवान् श्रीराम का वनगमन हो रहा है। प्रयाग से आगे चलते हुए यमुना पार कर वे मार्ग में अवस्थित महामुनि श्री वाल्मीकि जी के आश्रम में जाते हैं और

प्रणाम करते हैं। महामुनि परम पुलकित होकर उनकी अभ्यर्चना करते हैं। भगवान् श्रीराम उनसे पूछते हैं— महाराज! मुझे पिता का वन में रहने का आदेश मिला है आप त्रिकालज्ञ महर्षि हैं, कृपया मुझे ऐसी जगह बताएँ जहाँ मैं कुछ काल कुटिया बनाकर रह सकूँ और किसी की दिनचर्या पर कोई प्रतिकूल प्रभाव भी न पड़े। वाल्मीकि जी ने श्रीराम को उत्तर देते हुए कहा—

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
यो सृजति जगु पालति हरति रुख पाई कृपा निधान की।।
राम सरुप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।।

सोरठा 126, अयोध्याकाण्ड 190-195

अर्थात् हे राम! तुम लोक की बाधा लाँघने में सहायता करने वाले वेद रूपी सेतु के संरक्षक संसार के ईश हो अर्थात् तुममें इस सृष्टि को मिटाने अथवा इसे किसी अन्य अकल्पित रूप में कर देने की क्षमता विद्यमान है। तुम्हारा रूप शब्दों में बता पाना सम्भव नहीं, तुम्हारी सत्ता कालाबाधित है, तुम सनातन सूक्ष्म तत्त्व हो। वेद तुम्हें 'नेति-नेति' कहकर नित्य निरन्तर व्याप्त सत्ता के रूप में वर्णित करते हैं। तुम्हें जानने की क्षमता भी बिना तुम्हारी कृपा के किसी को मिल नहीं पाती—

सोई जानई जेहि देहू जनाई, जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।

अयोध्याकाण्ड, दो0.126-127

श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय के 34वें का द्वितीय पाद है 'उद्भवश्च भविष्यताम्' श्रीमदाद्यशंकराचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

उद्भव उत्कर्षः अभ्युदयः तत्प्राप्तिहेतुः च अहम्, केषां भविष्यतां भाविकल्याणानाम् उत्कर्षप्राप्तियोग्यानाम् इत्यर्थः।।

अर्थात् भविष्य में जिसका कल्याण होने वाला है, जो उत्कर्षता प्राप्ति के योग्य है उनका उद्भव अर्थात् उत्कर्ष, उन्नति की प्राप्ति का कारण मैं हूँ।

श्रीभगवान् का एक नाम 'उद्भव' भी है। *महाभारत* के भीष्मपर्व में आये भीष्मयुधिष्ठिर संवाद के रूप में प्रसिद्ध *विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र* में दो बार इस पद की आवृत्ति हुई है—

उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः। (41)
उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः।। (85)

विष्णुसहस्रनाम के मर्मज्ञ पुण्यश्लोक साधु श्री विनोवा भावे जी ने 'उद्भव' पद का अर्थ सर्वसाक्षी एवं सर्वनियन्ता के रूप में माना है।

सृष्टि की जो प्रक्रिया हम अपनी आखों से देखते-सुनते हैं उन्हीं पर हमारा विश्वास होता है, परोक्ष में जो सृष्टि की प्रेरक सत्ता है उस पर प्रतीति नहीं हो पाती। *श्रीमद्भगवत* के प्रथमस्कन्ध के द्वितीय अध्याय के 11वें श्लोक में शौनकादि ऋषियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री सूत जी ने कहा—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। *श्रीमद्भागवत*, 1.2.11

अर्थात् तत्त्ववेत्ता परमर्षियों ने तत्त्व के रूप में जिसे जाना, सुना वह अखण्ड, अद्वितीय ज्ञान की सत्ता को ही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् के नाम से शब्द उनका कीर्तन करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने *रामचरितमानस* के बालकाण्ड में कहा है

नाम रूप दुई ईश उपाधि अकथ अनादि सुसामुझि साधी।

बालकाण्ड, दोहा 20 के बाद

अर्थात् नाम और रूप ये दोनों ईश्वर की उपाधि है, अनादि और अनिर्वचनीय है, उन्हीं की कृपा से कोई जीव उन्हें जानने में समर्थ होता है।

ईश्वरत्व एवं प्रभुत्व ये सब उस परमात्मा के जिसे भगवान् कहा जाता है, के स्वाभाविक सहज धर्म हैं, जिनसे वह समस्त जीवों के प्रति अपार करुणा से ओत-प्रोत होकर उनके उद्धार के लिए धारण करते हैं। शास्त्र कहते हैं कि—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णाम् भग इतीरणा।।

अर्थात् समस्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य एवं ज्ञान (मोक्ष) इन छः को 'भग' नाम से जाना जाता है। व्याकरण के अनुसार—"भगः अस्य अस्येति भगवान्" इस मतुप् प्रत्ययान्त पद की सिद्धि होती है। यह ऐश्वर्य परमात्मा लोकोपकार हित सदा धारण करते हैं। उनके एक अंशमात्र में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की सत्ता और उसका अस्तित्व सृजित एवं पालित होता रहता है, जिसके बारे में सूक्ष्म संकेत *ऋग्वेद* के 'पुरुष सूक्त' का यह मन्त्र इंगित करता है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि।। *ऋग्वेद*, 10.90.4

अर्थात् उस परमात्मतत्त्व का तीन चौथाई भाग ऊपर उठ गया एवं एक चौथाई पादमात्र से उसने सम्पूर्ण चराचरात्मक अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड को प्राप्त कर प्रतिष्ठा प्राप्त की। कूर्मपुराण में कहा गया है—

त्वयैव सृष्टमखिलं त्वय्येव सकलं स्थितम्।
पालयच्च जगत्सर्वं त्राता त्वं शरणं गतिः।। *कूर्मपुराण*, 6.21

हे सच्चिदानन्द! आपने जगत् की सृष्टि की है, आप में ही सब कुछ स्थित है। इस सम्पूर्ण जगत् का आप पालन कीजिए। आप ही शरण और गति हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति की समय सबसे पहले वह काम अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई जो परमेश्वर के मन में सबसे पहला सृष्टि का बीज रूप कारण हुआ। अस्तित्व रूप से विद्यमान जगत् के बन्धन के कारण तत्त्वदर्शी ऋषियों ने अपनी बुद्धि से हृदय में विचार कर भाव से विलक्षण अभाव को खोजा

कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।। *ऋग्वेद*, 10.129.3

उस परमात्मा में संकल्प की शक्ति आविर्भूत होने को थी। उस एक से अनेक की सर्जना आकार लेने वाली थी। उपनिषद् कहता है—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।
तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द बल्ली, अनु-6

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति– तत् तेजोऽसृजत।
छान्दोग्योपनिषद्, 6.2.3

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।
ऐतरेयोपनिषद्, 1.1

प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत 'कथं नु प्रजायेय' इति।।
शतपथ ब्राह्मण, 2.2.2.2.4.1

इस जगत् के प्रकट होने पूर्व कारण रूप एकमात्र परमात्मा ही थे। उस समय उस परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था। उन्होंने कामना की "मैं अकेला हूँ, बहुत सारे रूपों में विभक्त हो जाऊँ।"

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तत्त्वा च मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतो मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। *प्रश्नोपनिषद्*, 1.4

अर्थात् परमेश्वर को सृष्टि के आदि में जब प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा हुई तब उन्होंने संकल्परूप तप किया। तप से उन्होंने सर्वप्रथम 'रयि' और 'प्राण' इन दोनों का जोड़ा उत्पन्न किया। उन्हें

उत्पन्न करने का उद्देश्य यहीं था कि ये दोनों मिलकर मेरे लिए नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करेंगे। समष्टि जीवनशक्ति को 'प्राण' एवं स्थूलभूत समुदाय का 'रयि' रखा गया जो प्राणरूप जीवनीशक्ति से अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है। 'प्राण' चेतना है, 'रयि' शक्ति या आकृति है। धनात्मक एवं ऋणात्मक दोनों तत्त्वों की भाँति 'प्राण' एवं 'रयि' के संयोग से ही सृष्टि का समस्त कार्य सम्पन्न होता है इन्हीं को अन्यत्र 'अग्नि' एवं 'सोम' तथा 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' नाम से जाना जाता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने इन्हीं अग्नि एवं सोम की चर्चा करते हुए 'अग्निसोमात्मकं जगत्' कहा है। 'प्राण' एवं 'रयि के स्वरूप को समझाते हुए कहा गया है—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।। *प्रश्नोपनिषद्*, 1.5

यह सूर्य जो हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है यही 'प्राण' है, क्योंकि इसी में सबको जीवन प्रदान करने वाली चेतना शक्ति की प्रधानता और अधिकता है। यह सूर्य उस सूक्ष्म जीवनीशक्ति का घनीभूत स्वरूप है। उसी प्रकार यह चन्द्रमा ही 'रयि' है। स्थूल तत्त्वों को पुष्ट करने वाली, समस्त प्राणियों के स्थूल शरीरों का पोषण करने वाली चन्द्रमा की शक्ति ही है। हमारे शरीर में ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हैं। उसमें जीवनशक्ति का सम्बन्ध सूर्य से है एवं मांस, मेदादि स्थूल तत्त्वों का सम्बन्ध चन्द्रमा से है।

सुकेशा ऋषि के पूछने पर महर्षि पिप्पलाद ने सृष्टि के क्रम का वर्णन करते हुए कहा—

स इक्षंचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामिति।। *प्रश्नोपनिषद्*, 6.3

महासर्ग के आदि में जगत् की रचना करने वाले परमपुरुष परमेश्वर ने विचार किया कि "मैं जिस ब्रह्माण्ड की रचना करना चाहता हूँ उसमें ऐसा कौन-सा तत्त्व डाला जाय जिसके न रहने पर मैं स्वयं भी न रहूँ। अर्थात् मेरी सत्ता स्पष्ट रूप से व्यक्त न रहे और जिसके रहने पर मेरी सत्ता स्पष्ट रूप से प्रतीत होती रहे।"

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुज्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।। *प्रश्नोपनिषद्*, 6.4

उस परब्रह्म ने सर्वप्रथम सबके प्राणरूप हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया। तदनन्तर शुभकर्म में प्रवृत्त कराने वाली श्रद्धा अर्थात् आस्तिक बुद्धि को प्रकट करके पुनः शरीर के उपानभूत आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथिवी इन पाँच महाभूतों की सृष्टि की। पुनः बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों के समुदाय रूप अन्तःकरण को रचा। तदनन्तर पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कमेन्द्रियों को उत्पन्न किया। प्राणियों के शरीर की स्थिति के लिए अन्न एवं अन्न के परिपाक द्वारा बल की सृष्टि की। अन्तःकरण और इन्द्रियों के संयमरूप तप का प्रादुर्भाव किया, भिन्न-भिन्न मन्त्रों की कल्पना की। अन्तःकरण के संयोग से इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले कर्मों का निर्माण किया, लोकों को बनाया एवं नाम रूपों की रचना की।

विष्णुपुराण में कहा गया है—

त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्।
तेनाग्रे सर्वमेवासीद्व्याप्तं वै प्रलयादनु।। *विष्णुपुराण*, 2.21

वे सच्चिदानन्द त्रिगुणमय और जगत् का कारण एवं अनादि, उत्पत्ति एवं लय से रहित हैं। यह सम्पूर्ण प्रपंच प्रलयकाल से लेकर सृष्टि के आदि तक उन्हीं में व्याप्त था। पराशर जी उस ब्रह्म को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे।।
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च।
वासुदेवावताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे।।
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्ति हेतवे।।
सर्गस्थितिविनाशानां जगतो यो जगन्मयः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने।।
आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्।
प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम्।।
ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।
तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्।।
विष्णुं ग्रसिष्णु विश्वस्य स्थितौ सर्गे तथा प्रभुम्।
प्रणम्य जगतामीशमजमक्षयमव्ययम्।। *विष्णुपुराण*, 1-7

अर्थात् जो ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर रूप से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार के कारण हैं, अपने भक्तों को संसार सागर से तारने वाले हैं, उन विकार रहित शुद्ध, अविनाशी परमात्मा, सर्वदा एक रस, सर्वविजयी को प्रणाम है। जो एक होकर भी नाना रूप वाले हैं, स्थूल-सूक्ष्ममय हैं, अव्यक्त (कारण) एवं व्यक्त (कार्य) रूप है, अपने अनन्य भक्तों की मुक्ति के कारण हैं, जो विश्वरूप प्रभु सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारणमूल हैं,विश्व के अधिष्ठान, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, समस्त प्राणियों में स्थित पुरुषोत्तम एवं अविनाशी, अतिनिर्मल ज्ञानस्वरूप किन्तु अज्ञानतावश नाना पदार्थों में प्रतीत होते हैं, कालस्वरूप से जगत् की उत्पत्ति और स्थिति में समर्थ एवं उसका संहार करने वाले हैं, उस जगदीश्वर, अजन्मा अक्षय एवं अव्यय भगवान् विष्णु को प्रणाम करता हूँ।

उस विष्णु के परम (उपाधि रहित) स्वरूप से प्रधान एवं पुरुष दो रूप हुए। दोनों ही रूप सृष्टि एवं प्रलय में संयुक्त एवं वियुक्त होते हैं। उस रूपान्तरण का नाम ही 'काल' है। यह कालरूप भगवान् अनादि हैं, इसलिए संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय कभी नहीं रुकते।

सर्ग काल के प्राप्त होने पर गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान जब विष्णु के क्षेत्रज्ञरूप से अधिष्ठित हुए तो महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई उत्पन्न हुए महान् को प्रधानतत्त्व ने आवृत्त किया, महत्तत्त्व 'सात्त्विक', 'राजस' एवं 'तामस' भेद से तीन प्रकार का है किन्तु जिस प्रकार बीज छिलके से सम्भाव से ढका रहता है वैसे ही यह त्रिविध महत्तत्त्व प्रधान-तत्त्व से व्याप्त है। त्रिविध महत्तत्त्व से ही सात्त्विक, तेजस, तामस तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ। भूतादि नामक तामस अहंकार ने विकृत होकर शब्द तन्मात्रा और उससे आकाश की रचना की। आकाश ने विकृत होकर स्पर्शतन्मात्रा, उससे बलवान वायु उत्पन्न हुई जिसका गुण स्पर्श माना गया है। स्पर्श तन्मात्रा रूप वायु विकृत होकर रूप तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा से तेज, तेज से रस तन्मात्रा, उस रस तन्मात्रा से रसगुण वाला जल, जल से गन्ध तन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न हुई, जिसका गुण गन्ध माना जाता है। ये तन्मात्राएँ गुणरूप ही कही गई हैं, इसलिए इनकी संज्ञा 'अविशेष' है। वे तन्मात्राएँ शान्त, घोर अथवा मूढ़ नहीं हैं अर्थात् उनका सुख-दुःख या मोहरूप से अनुभव नहीं हो सकता। इस प्रकार तामस अन्धकार से यह भूत तन्मात्रारूप सर्ग (सृष्टि) उत्पन्न हुआ।

दस इन्द्रियाँ 'तेजस' अर्थात् 'राजस' अहंकार से उत्पन्न कही जाती हैं। इन्द्रियों के अधिष्ठाता दश देवता और ग्यारहवाँ 'मन', 'सात्त्विक' है। त्वक, चक्षु, नासिका जिह्वा और श्रोत्र, ये पाँचों बुद्धि की सहायता से शब्दादि विषयों का ग्रहण करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग), हस्त, पाद एवं वाक् ये पाँच कमेन्द्रियाँ हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पाँचों भूत क्रमशः शब्द, स्पर्श आदि पाँचों गुणों से युक्त हैं। इनमें पृथक-पृथक् नाना शक्तियाँ हैं अतः वे परस्पर पूर्णतया मिले बिना संसार की रचना नहीं कर सकते। महत्तत्त्व से लेकर विशेष पर्यन्त प्रकृति के इन सभी विकारों ने पुरुष से अधिष्ठित होने के कारण परस्पर मिलकर प्रधान तत्त्व के अनुग्रह से अण्ड की उत्पत्ति की। जल के बुलबुले के समान क्रमशः भूतों से बढ़ा हुआ गोलाकार जल पर स्थित महान् अण्ड ब्रह्म हिरण्यगर्भ रूप उत्पन्न हुआ। उसमें अव्यक्त स्वरूप ब्रह्म, व्यक्त हिरण्यगर्भरूप से स्वयं ही विराजमान हुए। *ऋग्वेद* में कहा गया है- सारी सृष्टि उन्हीं में समाई हुई है। उसने ही पृथिवी लोक एवं द्युलोक दोनों को धारण कर रखा है। सारी आहुतियाँ उसी भूपत्ति सर्वव्यापक, सर्वात्मा प्रजापति को समर्पित हो रही हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। *ऋग्वेद*, 10.121.1

उनके अतिरिक्त किस देवता के लिए हम हवि का विधान करें। *विष्णुपुराण* के द्वितीय अध्याय में उल्लिखित है कि—

मेरुरुल्वमभूत्तस्य जरायुज महीधराः।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन्सुमहात्मनः।। *विष्णुपुराण*, 2.57

उस महात्मा हिरण्यगर्भ का सुमेरु उल्व (गर्भ को ढकने वाली झिल्ली), अन्य पर्वत जरायु (गर्भाशय) तथा समुद्र गर्भाशयस्थ रस था। उस अण्ड में ही पर्वत और द्विपादि सहित समुद्र, ग्रहगण सहित सम्पूर्णलोक तथा देव, असुर एवं मनुष्यादि प्राणीवर्ग प्रकट हुए।

वह अण्ड पूर्व की अपेक्षा दश-दश गुण अधिक जल, अग्नि, वायु, आकाश तामस अहंकार से, भूतादि महत्तत्त्व अव्यक्त प्रधान से आवृत्त है। जिस प्रकार नारियल के फल का भीतरी बीज बाहर से अनेक छिलकों से ढका रहता है उसी प्रकार वह अण्ड सात प्राकृत आवरणों से ढका रहता है। उसमें स्थित विश्वेश्वर रजोगुण का आश्रय लेकर ब्रह्म होकर इस संसार की रचना में प्रवृत्त होते हैं। रचना हो जाने पर सत्वगुण विशिष्ट भगवान् विष्णु उसका कल्पान्त पर्यन्त पालन करते हैं, कल्प का अन्त होने पर दारुण तमः प्रधान 'रुद्र' रूप धारण कर समस्त भूतों का भक्षण कर लेते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि को जलमय कर नागशय्या पर शयन करते हैं। जगने पर ब्रह्मा रूप होकर पुनः जगत् की सृष्टि करते हैं। वह परमेश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन संज्ञाओं को धारण करते हैं।

एभिरावरणैरण्डं सप्तभिः प्रकृतैर्वृतम्।
नारिकेलफलस्यान्तर्बीजं बाह्यदलैरिव।
जुषन् रजो तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः।
ब्रह्मा भूत्वास्य जगतो विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते।।
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्पविकल्पना।
सत्त्वभृद्भगवान्विष्णुरप्रमेयपराक्रमः।।
तमोद्रेकी च कल्पान्ते रुद्ररूपी जनार्दनः।
मैत्रेयाखिलभूतानि भक्षयत्यतिदारुणः।।
भक्षयित्वा च भूतानि जगत्येकार्णवीकृते।
नागपर्यङ्कशयने शेते च परमेश्वरः।।
प्रबुद्धश्च पुनः सृष्टिं करोति ब्रह्मरूपधृक्।।
सृष्टिस्थित्यन्तकरणी ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः।। *विष्णुपुराण*, 2.60-66

मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है—

ध्रुवमक्ष्य्यमजरममेयं नान्य संश्रयम्।
गन्धरूपरसैर्हीनं शब्दस्पर्श विवर्जितम्।।
अनाद्यन्तं जगद्योनि त्रिगुणप्रभवाप्ययम्।
असाम्प्रतमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे समवर्तत।।
प्रलयस्यानु तेनेदं व्याप्तमासीदशेषतः।
गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेज्ञाधिष्ठितान्मुने।।

जो नित्य, अक्षय, अजर एवं अपरिमेय है, जो किसी का आश्रय ग्रहण कर अवस्थित नहीं रहता। जो गन्धहीन, रसहीन, शब्दस्पर्श रहित हैं, अनादि एवं अनन्त है, जो जगत् की उत्पत्ति के स्थान हैं, जिनसे तीनों गुण उत्पन्न हुए हैं, जो अविनाशी हैं, सदा विद्यमान एवं अविज्ञेय हैं, जो सबके कारण हैं, वे ब्रह्म सबके आगे विराजित रहकर प्रलय के बाद अखिल जगत् को सम्यक् प्रकार से व्याप्त करके विराजमान रहते हैं।

भविष्यपुराण में कहा गया है—

आत्मना स्वयमात्मानं संचित्य भगवान्विभुः।
मनः संसृजते पूर्वमहङ्कारं च पृष्ठतः।
अहंकारात्प्रजानाति महाभूतानि पञ्च च।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चैव षोडशः।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ तथैव च।।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणाः प्रोक्तास्तु ते त्रयः।
तस्माद्भागवतो ब्रह्मा तस्माद्विष्णुरजायत।।
ब्रह्मविष्णुमोहनार्थं ततः शम्भुस्तु तेजसां।
अशरीरो वासुदेवो ह्यनुत्पत्तिरयोनिजः।।
व्यामोहयित्वा तत्सर्वं तेजसाऽमोहयज्जगत्।
तस्मात्परतरं नास्ति तस्मात्परतरं नहि।। *भविष्यपुराण*, 2.3-8

वे परब्रह्म स्वयं अपना चिन्तन करके सर्वप्रथम मन की सृष्टि करते हैं, पश्चात् अहंकार की। अहंकार द्वारा पंचमहाभूत, आठों प्रकृतियों, सोलह विकारों को उत्पन्न करते हैं तथा शब्द, रस, गन्ध, प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान की भी। सत्व, रज, तम यही तीन गुण बताये गये हैं। इसीलिए उस ब्रह्म द्वारा ब्रह्मा की, ब्रह्मा द्वारा विष्णु की तथा ब्रह्मा-विष्णु के सम्मोहनार्थ (उनके) तेज से शिव की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अशरीरी उस ब्रह्म से अयोनिज की आविर्भूति बतायी गयी है।

वृहन्नारदीयपुराण में कहा गया है—जो अनादि, अनन्त, अजर, अमर, अव्यक्त, शाश्वत एवं अव्यय नाम से विख्यात है, जिससे समस्त भूत उत्पन्न हुए हैं और नष्ट भी होते हैं, उस परब्रह्म ने सर्वप्रथम नाम (शब्द) से महान् नामक तत्त्व को उत्पन्न किया। वह समस्त भूतों को उत्पन्न करने वाला समर्थ 'आकाश' नाम से विख्यात है। आकाश से जल, जल से अग्नि और वायु उत्पन्न हुए। तदनन्तर अग्नि और वायु के संयोग से पृथिवी उत्पन्न हुई। स्वयंभू ने पुनः एक तेजोमय दिव्यकमल को उत्पन्न किया। उस पद्म से वेदमय ब्रह्मा उत्पन्न हुए। समस्तभूतों का उत्पादक 'अहंकार' भी उसी का नाम है। वे महातेजस्वी ब्रह्मा एवं पंचधातु सब उसके ही रूप हैं। सभी पर्वत उस विराट् की हड्डियाँ हैं, मेदिनी (पृथिवी) मज्जा एवं मांस हैं। समुद्र उसका रक्त एवं

आकाश उदर है, पवन और तेज उसके निःश्वास हैं। नदियाँ उसकी शिराएँ (नाड़ियाँ), अग्नि तथा सोम, चन्द्र तथा सूर्य उसके नेत्र हैं। आकाश उसका कपाल, पृथिवी चरण तथा दिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं। सभी भूतों में व्याप्त रहने वाले, सृष्टि के एकमात्र आदि कारण हैं—

अनादिनिधनो देवस्तथा तेभ्योऽजरामरः।
अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः।।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च प्रयन्ति च।
सोऽसृजत्प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः।।
आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः।
आकाशादभवद्वारि सलिलादग्निमारुतौ।
अग्निमारुतसंयोगात्ततः समभवन्मही।
ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।।
तस्मात्पद्मात्समभवद्ब्रह्मा वेदमयो विधिः।
अहङ्कार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत्।।
ब्रह्मा वै स महातेजा य एते पञ्च धातवः।
शैलास्तस्यास्थिसंघास्तु मेदो मांसं च मेदिनी।।
समुद्रास्तस्य रूधिरमाकाशमुदरं तथा।
पवनश्चैव निश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाः शिराः।।

ऐसे वह परब्रह्म जो जगत् के कारण भूत, जगत् के एकमात्र आश्रय हैं, वे इन्द्रद्युम्न की स्तुति से प्रसन्न होकर हँसते हुए अपने दोनों हाथों से मानो उनका स्पर्श किया। उनके स्पर्शमात्र से इन्द्रद्युम्न ने अविकल रूप में परमतत्त्व को जान लिया। इन्द्रद्युम्न ने पूछा हे जनार्दन! यह परमतत्त्व क्या है और विभूति क्या है? श्री नारायण बोले—

परात्परतरं तत्त्वं परं ब्रह्मैकमव्ययम्।
नित्यानन्दमयं ज्योतिरक्षरं तमसः परम्।
ऐश्वर्यं तस्य यन्नित्यं विभूतिरिति गीयते।।
कार्यं जगदथाव्यक्तं कारणं शुद्धमक्षरम्।
अहं हि सर्वभूतानामन्तर्यामीश्वरः पुरः।।
सर्गस्थित्यन्तकर्तृत्वं प्रवृत्तिर्मम गीयते।
एतद्विज्ञाय भावेन यथावदखिलं द्विज।। *कूर्मपुराण,* 1.93.96

परमतत्त्व एक अविनाशी ब्रह्म है, वह नित्य आनन्दमय तम से परे और परमज्योति स्वरूप है। इसका जो नित्य ऐश्वर्य है उसे विभूति कहा जाता है। जगत् इसका कार्य है तथा शुद्ध, अक्षर, अव्यक्त इसका कारण है।

वे सभी प्राणियों के अन्तर्यामी ईश्वर हैं। सृष्टि, पालन, संहार करना इनकी प्रवृत्ति कही गयी है। *गीता* में भी भगवान् ने स्वयं कहा है—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। *गीता*, 10.39

अर्थात् समस्त भूतों का जो कारण है वह मैं हूँ। ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं जो मुझसे रहित हो।

देवताओं की उत्पत्ति के विषय में *ऐतरेय ब्राह्मण* में कहा गया है—उस परब्रह्म के अंग-उपांगों से समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं से उत्पत्ति हुई। मुख से वाक् इन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठातृ देवता अग्नि, नासिका से प्राण वायु एवं प्राणों से प्राण देवता, वाक् इन्द्रिय साथ-साथ रसना इन्द्रिय एवं उसके अधिष्ठातृ देवता, आँखों से नेत्रेन्द्रिय एवं उसके देवता-सूर्य, कानों से श्रोत्रेन्द्रिय उनके देवता दिशाएँ, त्वचा से रोम-ओषधियाँ एवं वनस्पतियाँ, हृदय से मन उसके देवता चन्द्रमा, नाभि से अपान वायु-गुदेन्द्रिय उसके अधिष्ठातृ मृत्युदेवता की उत्पत्ति हुई।

मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी
निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णो निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं
श्रोत्रादिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत
हृदयान्मो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत
शिश्नाद्रेतो रेतस आपः। *ऐतरेयब्राह्मण*, 1. 24

परमात्मा के द्वारा रचे गये इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं को कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं मिला जिस समष्टि में वे रह सकें। परमात्मा ने उन्हें भूख और प्यास से संयुक्त कर दिया जिससे पीड़ित होकर देवताओं ने परमात्मा से प्रार्थना की- हे भगवन्। हमारे लिए किसी ऐसे स्थान की व्यवस्था कीजिए जिसमें रहकर हम अन्न का भक्षण कर सकें। तब परमात्मा ने गौ का शरीर बनाया, देवताओं ने कहा—इससे हमारा कार्य नहीं चलेगा, तब उन्होंने घोड़ा बनाया, देवताओं ने कहा यह हमारे लिए यथेष्ट नहीं है कोई और शरीर बनाकर दीजिए। तब परमात्मा ने उनके लिए मनुष्य शरीर की रचना की, उसे देखते ही देवता बड़े प्रसन्न हुए, तब परमात्मा ने कहा- तुम लोग अपने-अपने योग्य स्थान को देखकर शरीर में प्रवेश कर जाओ।

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं
प्राविशतेति। *ऐतरेयब्राह्मण,* 1.2.3

अग्नि वाक् होकर मुख में, वायु-नासिका, सूर्य-नेत्र, दिशाभिमानी-श्रोत्रेन्द्रिय, ओषधि-वनस्पति के अभिमानी देवता रोम, चन्द्रमा-मन, मृत्युदेवता-अपानवायु, नाभि, जल के अधिष्ठातृ देवता-वीर्य बनकर लिंग में प्रविष्ट हो गये।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्रविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशिः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्न प्राविशन्।। *ऐतरेय उपनिषद्* 1.2.1

इस प्रकार उस परमात्मा ने लोकपालों आदि की रचना के उपरान्त मनुष्यों के लिए अन्न भी उत्पन्न किया तथा शरीरधारी उस पुरुष ने आहार ग्रहण करना भी सीख लिया। तब द्रष्टा परमात्मा ने विचार किया यह मनुष्यरूप पुरुष मेरे बिना कैसे रहेगा यदि जीवात्मा के साथ मेरा सहयोग नहीं होगा तो उस टिक पाना असम्भव होगा, अतः उन्होंने मनुष्य शरीर में प्रवेश करने का विचार किया

स एतमेव सीमानं विदार्यतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम
द्वास्तदेतन्नान्दनम्।। *ऐतरेय उपनिषद्,* 1.2.12

परमात्मा इस मनुष्य शरीर की सीमा को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को चीरकर उस सजीव मनुष्य में प्रविष्ट हो गये। यह द्वार 'विदृति' नाम से प्रसिद्ध है। यह 'विदृति' नामक द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) आनन्द देने वाला अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है।

तैत्तिरीयउपनिषद् में भी कहा गया है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। *तैत्तिरीयउपनिषद्,* 6

समस्त जगत् की रचना करके परमात्मा स्वयं उसी में अनुप्रविष्ट हो गये।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। *ईशावास्योपनिषद्,* 1

अर्थात् इस संसार में जो कुछ भी स्थावर, जंगम है उन सबमें ईश्वर व्याप्त है, उनकी कलाएँ व्याप्त हैं। उनकी कलाओं के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं। इसलिए सम्पूर्ण जगत् "ईशावास्य" है।

इस सम्पूर्ण चराचरात्मक अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के सर्जना की लीलाएँ अपने उत्पत्ति एवं पालन सहित सम्पूर्ण जागतिक व्यवहार उस ब्रह्म के अन्दर ही प्रतिपादित होता रहता है। वह स्वयं अनादि है, अनन्त है, अचिन्त्य है, व्याप्त और अव्यक्त भी। इसलिए उसे सनातन कहा जाता है। विष्णु सहस्रनाम में भी उसके इसी नाम की चर्चा है।

सनात्सनातनतमः कपिलः कपिरप्ययः।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत्स्वस्ति स्वस्तिभुक् स्वस्तिदक्षिणः।। *विष्णुसहस्रनाम,* 96

इस तत्त्व की जिज्ञासा का समाधान एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है—आज के युग में बिजली के अभाव में जीवन की कल्पना क्या सम्भव है? पलभर के लिए कभी बिजली का सम्बन्ध विच्छेद होता है, तो श्वास लेना कठिन हो जाता है। 'एडिशन' ने बिजली की खोजकर, बल्ब में प्रकाश संचारित कर दुनिया का बड़ा उपकार किया, किन्तु यदि हम विचार करें तो क्या उनके द्वारा खोजे जाने के पूर्व बिजली की सत्ता नहीं थी? सत्ता थी तो पर उसके प्रत्यक्षीकरण का कोई साधन या उपाय ज्ञात नहीं था। खोजे जाने के अनन्तर अब उस रहस्य से आवरण हट गया, वह अनेक रूपों में दुनियाँ के अनेक कार्यों का सम्पादन करने लगी है। ऐसे ही ब्रह्म की सत्ता सर्वव्यापक है पर ज्ञात नहीं। उस बिजली का ज्ञान तो होता है पर वह आकार अनुभूति में नहीं आती। तारों में सिमटी रहती है, उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। जब बल्बादि भौतिक साधनों के द्वारा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है तब दुनिया के लोग बिजली आयी, बिजली गयी उसके बारे में कहने लग जाते हैं।

ऐसे ही उस परमसत्ता की तीन अभिधाएँ हैं—ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्। भगवत्पद लोकव्यक्त सत्ता है अतः उसकी उपासना विभिन्न रूपों में संसार में है। अब इस दृष्टान्त के माध्यम से तीनों पदों की संगति करना सुकर हो जाता है। वह साक्षी भी है पालनहार भी। इसीलिए वेद 'नेति-नेति' कहकर उसकी सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। उसे एक एवं अद्वितीय भी कहते हैं। श्रुति भी कहती है—

एकमेवाद्वितीय ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'रामचरितमानस' कहा है—

ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।

मेरे इस आलेख से पुण्यात्मा सज्जन पाठकों को यदि किंचन मात्र प्रसन्नता हुई तो मैं अपना श्रम सार्थक मानूँगी, वस्तुतः यह सब भगवत् कृपा ही है। कृतज्ञ भाव को व्यक्त करने के लिए तुलसीदास की एक चौपाई का स्मरण हो आता है—

अति अगाध जे सरितवर जौ नृप सेतुं कराहिं।
चढ़ि पीपीलिकउ परमलघु विनु श्रम पारहि जाहिं।। *बालकाण्ड*, 13

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी।
चलवाणी—7376016995

औपनिषदीय प्रश्नोत्तर परम्परा

डॉ. सरोज कौशल

भारतीय वाङ्मय परम्परा वैचारिक विशदन-प्राधान्य है। वैचारिक सङ्कोच का हमारी परम्परा समर्थन नहीं करती है। वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करें तो नासदीय सूक्त सृष्टि प्रक्रिया पर पूर्ण चिन्तन कर अन्त में प्रश्न उत्थापित करता है।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।।

फिर यह प्रश्न एक ऐसी आशंका में निमग्न हो जाता है कि जिसने इस सृष्टि की सर्जना की वह भी इसे जानता है अथवा नहीं।

इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्त में **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** इस चतुर्थ चरणस्थ 'कस्मै' से अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है और सुप्रथित अर्थ है कि तत्तद् गुणों से युक्त ऐसे देवता के अतिरिक्त किस देवता के लिए हवि से विधान करें।

भारतीय दर्शन का सूत्रपात करने वाले मनीषियों ने जिज्ञासा को बहुत महत्त्व दिया है। हमारी दार्शनिक परम्परा में जिज्ञासा वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता है। उसकी जिज्ञासा का उदय भी यम के सान्निध्य में होता है। नचिकेता (न+चिकेतस्) शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसके अन्दर जानने की उत्कट इच्छा हो परन्तु जो जानता न हो। जिज्ञासा के वर को नचिकेता सर्वश्रेष्ठ समझता है—

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।[1]

नचिकेता वाजश्रवा का पुत्र था। एक बार ऋषि दक्षिणा में वृद्ध गायों का दान कर रहे थे, उनको ऐसा करते देख नचिकेता ने पूछा, मुझे किसको दे रहो हो? पिता ने रोष में कह दिया—तुम्हें मैं मृत्यु को अर्पित करता हूँ। इस पर नचिकेता यम के पास चला गया। यम के वहाँ न होने पर तीन दिन तक यम के द्वार पर निराहार होकर प्रतीक्षा करता रहा—यम ने तीन रात्रियों के लिए तीन वरदान प्रदान किये।

1. प्रथम वरदान लौकिक है—मेरे पिता का क्रोध शान्त हो।
2. द्वितीय वरदान स्वर्ग्य अग्निविद्या से सम्बद्ध है।
3. तृतीय वरदान 'ब्रह्म विद्या' विषयक है।

इस पर यम ने अनेक प्रलोभन प्रदान कर तृतीय प्रश्न से ध्यान हटाना चाहा परन्तु नचिकेता की दृढ़ता—**वरस्तु वरणीय स एव।** मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं? प्राणी का शरीर क्षणभंगुर है अथवा नित्य तत्त्व वाला है? इस प्रश्न के समान अन्य कोई प्रश्न नहीं है।

नचिकेता के प्रलोभन के लिए यमराज उसके सामने अनेक सांसारिक आकर्षणों का प्रस्ताव रखते हैं—चिरञ्जीवी पुत्र-पौत्र, अमित धनराशि, मर्त्यलोक के दुर्लभ काम आदि। परन्तु दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा इस लौकिक सामग्री से समाधेय नहीं है। नचिकेता ने जो उत्तर दिया था, वह उत्तर दार्शनिक संसार के प्रमुख तोरण-द्वार पर आज भी शाश्वत रूप से उत्कीर्ण है।

यदि मनुष्य का मरण ध्रुव है, तो उसके लिए ये अनित्य पदार्थ किस प्रयोजन हेतु? इनसे इन्द्रियों का तेज क्रमशः क्षीण होता है। जीवनावधि स्वल्प है, इसमें नृत्यगीतादि के लिए स्थान कहाँ? सोने-चाँदी के रूपहले-सुनहले टुकड़ों से कब मनुष्य का पेट भरा है?

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।[2]

यह मनःस्थिति ही वास्तविक जिज्ञासा है। हमारे दार्शनिक साहित्य में *कठोपनिषद्* का नचिकेता-उपाख्यान इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि जितने ज्वलन्त रूप में दार्शनिक जिज्ञासा का परिचय हमें यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

इस प्रसङ्ग की सर्वाधिक विशेषता भी यह है कि इसमें लोक एवं लोकोत्तर दोनों ही जिज्ञासा के विषय हैं। यमराज द्वारा तीन वर प्रदान किये गये। प्रथम वर के रूप में नचिकेता ने पिता की क्रोध-शान्ति तथा शान्तसंकल्प होने की प्रार्थना की।[3] यह लौकिक वर हमें आचारदृष्ट्या उत्कर्ष की ओर अग्रसर करता है।

द्वितीय वर के रूप में स्वर्ग की प्रापिका अग्निविद्या का उपदेश प्राप्त किया। तृतीय वर के रूप में मृत्यु के पश्चात् क्या होता है—क्या 'आत्मा अस्ति' मृत्यु के पश्चात् यह आत्मा रहता है अथवा नहीं रहता है? यह यमराज से जानने की नचिकेता ने इच्छा की।

इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप पूरी जीवन-पद्धति व्याख्यायित कर दी गई। उस परमब्रह्म पुरुषोत्तम के परमधाम को किन साधनों से प्राप्त किया जा सकता है? सर्वप्रथम इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के नियमन की विधि तथा फल बताया गया है।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सह।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।[4]

जो इसके विपरीत विज्ञानवान् है, सदा वशीभूत मन वाला है, उसकी इन्द्रियाँ सदैव वश में रहती हैं। **सदश्वा इव सारथेः**—जिस प्रकार श्रेष्ठ अश्व सारथि के वश में रहते हैं। श्रुति उस परमात्म तत्त्व की प्राप्ति का

मार्ग बताते हुए कहती हैं—"कविजन उस तत्त्वज्ञान के मार्ग को छुरे की धारा के सदृश तीक्ष्ण एवं दुस्तर बताते है।"

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।[5]

धीर जन ध्रुव अमृतत्व को जानकर अध्रुव अर्थात् अनित्य भोगों में से किसी की प्रार्थना नहीं करते। अग्नि, वायु तथा सूर्य के दृष्टान्त से—

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

तृतीय प्रश्न अथवा वर के द्वारा ब्रह्मतत्त्व से सम्बद्ध विशद चिन्तन *कठोपनिषद्* की महती विशेषता है। केवल हृदय में स्थित कामनाओं की मुक्ति ही अमृतत्व के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मोऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।।[6]

प्रश्नोपनिषद् में शिष्यों के प्रश्नों के व्याज से महर्षि पिप्पलाद ने अनेक दार्शनिक पारिभाषिक पदों तथा अवधारणाओं की व्याख्या की है। कबन्धी कात्यायन का प्रश्न—हे भगवन्! किस प्रसिद्ध और सुनिश्चित कारण विशेष से यह सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है?

रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।[7]

इस प्रसङ्ग में रयि तथा प्राण की व्याख्या की गई। प्राण तो सुप्रथित शब्द है परन्तु 'रयि' एक पारिभाषिक शब्द है। (Technical Term)तस्मान्मूर्तिरेव रयिः। जितना भी मूर्त पदार्थ है वह सब रयि है।

द्वितीय प्रश्न विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा—कितने देव प्रजा को धारण करते हैं। इन सबमें कौन वरिष्ठ है?

महर्षि पिप्पलाद ने कहा—निश्चय ही वह प्रसिद्ध आकाश ही यह देवता है वायु, अग्नि, आप्, पृथिवी, वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन इन सबने शरीर को धारण कर रखा है। ये सब अपनी वरिष्ठता को लेकर अभिमानपूर्वक कहने लगे-हमने इस शरीर को धारण कर रखा है। तदनन्तर प्राण, जो सर्व वरिष्ठ था, बोला—मैं ही तुम सबको धारण करता हूँ—जब अन्य नहीं माने तो प्राण ऊर्ध्व उत्क्रमण करने लगा। तब अन्य कोई इन्द्रिय स्थिर नहीं रह पायी, उस प्राण के लौटने पर सब पुनः स्थिर हो गयीं। यहाँ दृष्टान्त नितान्त लौकिक ही प्रस्तुत किये गये हैं—**'तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति।'**[8] लौकिक दृष्टान्त से अध्यात्म की प्रक्रिया का सुगम निरूपण। केवल प्रश्न ही नहीं अपितु समाधान की शैली भी ध्यातव्य है।

आश्वलायन का प्रश्न—तृतीय प्रश्न

हे भगवन्! यह प्राण किससे उत्पन्न होता है? **आत्मन एष प्राणो जायते।** जिस प्रकार सम्राटू भिन्न-भिन्न ग्राम-मण्डलों में पृथक्-पृथक् अधिकारियों को नियुक्त करता है और उनका कार्य-विभाजन कर देता है। उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अङ्गभूत अपानादि को शरीर के पृथक्-पृथक् कार्यों में नियुक्त कर देते हैं।

केनोपनिषद् का नामकरण ही प्रश्नसूचक है। **'ॐ केनेषितं पतति प्रेषित मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रति युक्तः.....'**, किसके द्वारा अभिप्रेत हुआ मन अपने विषय की ओर जाता है। यहाँ 'पतति' इस क्रिया के साथ 'स्वविषयं प्रति' का अध्याहार अपेक्षित है। इस प्रश्न के सन्दर्भ में गुरु का उत्तर भी वैदिक भाषा के प्रकर्ष का ज्ञापक है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरति मुच्य धीराः प्रेत्य....जो श्रोत्र का भी श्रोत्र है—प्रथम श्रोत्र तो श्रोत्रेन्द्रिय का वाचक है जबकि अपर श्रोत्र आत्मा का वाचक है। इसी प्रकार मनसो मनः आदि में ऐसी अद्भुत ध्वन्यात्मक भाषा का प्रयोग उपनिषद् का ऋषि करता है जो कि लोक में अप्राप्यप्रायः है। इस पूरे उपनिषद् में प्रारम्भिक प्रश्न का उत्तर ही है और अनिर्वचनीय आत्मतत्त्व को वचनों द्वारा अभिव्यक्त करने का उपक्रम किया गया।

बृहदारण्यकोपनिषद् में शास्त्रार्थ का एक सुदीर्घ प्रसंग है। याज्ञवल्क्य से अनेक विद्वानों ने अद्भुत शास्त्रार्थ किया। ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य ने सभी के प्रश्नों का शान्तभाव से प्रत्युत्तर दिया। इनमें याज्ञवल्क्य-गार्गी प्रसङ्ग सुप्रथित है। इस सम्वाद से उपनिषद्कालीन स्त्री-शिक्षा के स्तर का भी भान होता है तथा ब्रह्म-विदुषी गार्गी का स्वाभिमान भी परिलक्षित होता है। गार्गी ने प्रश्न पूछने का उपक्रम करते हुए कहा—यह जो कुछ है वह सब जल में ओतप्रोत है परन्तु यह जल किसमें ओतप्रोत है। हे गार्गी—वायु में। वायु—अन्तरिक्ष। अन्तरिक्ष लोक—गन्धर्वलोक में.....।

अन्त में गार्गी ने पूछा—यह प्रजापति लोक किसमें ओतप्रोत है? हे गार्गी-ब्रह्मलोक में। गार्गी ने पूछा यह ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है? तो याज्ञवल्क्य ने कहा मातिप्राश्नीः। हे गार्गी! अतिप्रश्न मत कर। तुम उस देवता के प्रति अतिप्रश्न कर रही है। तेरा मस्तक न गिर जाये।

जब प्रश्न अनवस्था के चरम पर पहुँच जाता है और उसका उत्तर ही सम्भव न हो—तो वह अतिप्रश्न हो जाता है। ब्रह्मलोक में सब सुप्रतिष्ठित हैं, वही सर्वाधार है। उसकी प्रतिष्ठा कहाँ हो सकती है?

इसी प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी सम्वाद पर भी दृष्टिपात अपेक्षणीय है। याज्ञवल्क्य वानप्रस्थ में प्रवेश के इच्छुक हुए तो मैत्रेयी को कहा कि अपना धन तुम दोनों (पत्नियों) के मध्य बराबर बाँटना चाहता हूँ। इस पर मैत्रेयी का उत्तर—"क्या इस धन से मैं अमर हो जाऊँगी?"

सांसारिक ऐश्वर्य के प्रति अनासक्ति प्राबल्य मैत्रेयी के द्वारा उसका प्रतिपादन कराया जाना बहुत अद्भुत शैली है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रारम्भ भी प्रश्नों की शृङ्खला से होता है—

किं कारणं ब्रह्म कुतःस्म जाता जीवामः केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः?

ब्रह्मोद्य एक विशेष प्रकार के प्रश्न और उत्तर हैं जो यक्ष पूजा के आवश्यक अंग थे। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर या बूझने को लोक में यक्ष-प्रश्न के नाम से व्यवहृत किया जाता है। यजुर्वेद का ब्रह्मोद्य[9] और महाभारत की यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी[10] एक ही साहित्यिक शैली के अंश हैं। इन दोनों में विषय के आधार पर समानता पाई जाती है।

आरण्यक पर्व में जो यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद है वह लोक-साहित्य और वेद-साहित्य का संमिश्रण था इसमें प्रयुक्त दो प्रकार के प्रश्नों से यह प्रकट होता है। यथा—

'यज्ञीय साम क्या है?' 'प्राण यज्ञीय साम है।' यह वैदिक धरातल से आया हुआ प्रश्न है। अथवा किं स्विदेको विचरति—यह प्रश्न तो मूल यजुर्वेद से ही आया हुआ है, 'कः स्विदेकाकी चरति' यह मंत्रांश ही है। निश्चय ही इनका स्रोत वैदिक ब्रह्मोद्य या ब्रह्मविषयक प्रश्नोत्तरमयी चर्चायें ही थीं।

दूसरा विभाग लोक-साहित्य की धारा से सम्बन्धित है। किं स्वित् सुप्तं न निमिषति उत्तर में 'मत्स्यः सुप्तो न निमिषति।'

प्राचीन काल में यक्ष-पूजा का बहुत प्रचार था उसका आवश्यक अंग प्रश्नोत्तर या प्रश्न बूझना था ऐसी ही वेदकालीन ब्रह्मोद्य चर्चाओं में भी प्रश्नोत्तर पूछे जाते थे। *यजुर्वेद*[11] में कः स्विदेकाकी आदि 18 मन्त्रों को ब्रह्मोद्य कहा गया। *ऋग्वेद* का ऋषि भी अनेकथा इसी शैली का उपयोग करता है—**किंस्विद् वनं, क उ स वृक्षो आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः**। इन प्रश्नों का उत्तर भी इसी शैली में दिया जाता था—

'ब्रह्म तद्वनं, ब्रह्म उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।' इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों को ब्रह्मोद्य कहा जाता है। वेद में जो ब्रह्मोद्य शैली थी लोक में वह यक्ष-प्रश्न की शैली थी।

यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद के 18 श्लोकों में प्रश्न और 18 में ही उनके उत्तर हैं। महाभारतकार ने इस अंश को 'प्रश्नव्याकरण' (प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि) कहा है। प्रश्नों को बूझने का अथवा उनका समाधान करने का यक्ष-पूजा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुरु-जनपद के लोकसाहित्य में इसी शैली के लोकगीत भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें मल्होर या गाहा कहते हैं। जैसे—

प्रश्न— ऐ जी कौन जगत में एक है? बीरा कौन जगत में दोय?
कौन जगत में जागता? ऐ जी कोई कौन रह्या पड़ सोय?

उत्तर— ऐ जी राम जगत् में एक है, बीरा चन्दा सूरज दोय।
पाप जगत् में जागत ऐ जी कोई धरम रह्या पड़ सोय।।

इस प्रश्नोत्तरी के बोल प्राचीन वैदिक गाथाओं के समकक्ष हैं।

क स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
इसका उत्तर है— सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।

महाभारत में यक्ष पूछने वाला है और धर्म के प्रतिनिधि धर्मराज युधिष्ठिर उत्तर देने वाले हैं। परन्तु लोक में वस्तुतः लोग पूछते हैं और यक्ष उत्तर देता है। यक्ष प्रश्न की भूमिका के रूप में भी एक कथा है। पास के सरोवर पर नकुल को पानी लेने के लिए भेजा गया। ज्यों ही वह पानी लेने के लिए झुका उसने ये शब्द सुने 'हे तात्। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो और तब जल पियो।' नकुल ने इस पर ध्यान न दिया और वह पानी पीकर वहीं अचेत हो गया। इसी क्रम में सभी भ्राताओं की जब यह स्थिति हो गयी तब युधिष्ठिर वहाँ पहुँचे।

उन्होंने यह जान लिया कि यह कोई जलचर पक्षी नहीं अपितु महान् देवता है। तब युधिष्ठिर ने कहा—हे यक्ष! मैं आपके नियम को शिरोधार्य करता हूँ। आप प्रश्न पूछे, मैं यथामति उत्तर दूंगा। इसके पश्चात् एक विस्तृत प्रश्नावलि प्रवृत्त होती है और युधिष्ठिर के द्वारा विदग्धतापूर्वक प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं। इस पूरे प्रसङ्ग में प्रश्नोत्तर द्वारा रूढ़ियों पर कठोर प्रहार किये गये हैं।

प्रश्न यथा—किससे श्रोत्रिय होता है? किससे महान् की प्राप्ति होती है?

उत्तर—श्रुतज्ञान से श्रोत्रिय होता है। तप से महान् की प्राप्ति होती है।

'श्रोत्रिय' वंशपरम्परा से अथवा जन्म से नहीं हो सकता अपितु श्रुतज्ञान से श्रोत्रिय होना। यह उत्तर हमें उत्कर्ष की सोपान परम्परा में अभिप्रेरित करता है। ये प्रश्न सम्पूर्ण जीवन-पद्धति के निर्धारक हैं।

प्रश्न—एक शब्द में धर्म का निष्कर्ष क्या है?
उत्तर—कुशलता धर्म का निष्कर्ष है।

प्रश्न—किसकी मैत्री कभी जीर्ण नहीं होती?
उत्तर—सज्जनों की मैत्री कभी जीर्ण नहीं होती।

प्रश्न—राष्ट्र किससे मृत होता है?
उत्तर—अराजक राष्ट्र मृत कहलाता है।

अनेक प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करने के पश्चात् प्रसन्न हुए यक्ष ने कहा—किसी एक भाई का जीवन माँग लो। तब युधिष्ठिर का प्रत्युत्तर हम सभी के लिए चकित करने वाला था। युधिष्ठिर ने नकुल का जीवन माँगा। यक्ष विस्मित हुआ कि आपने अर्जुन और भीम को छोड़कर नकुल का जीवन क्यों चाहा? युधिष्ठिर का

प्रत्युत्तर—"मैं कुन्तीपुत्र तो हूँ ही, माद्री का भी एक पुत्र रहेगा, जिससे मेरा दोनों माताओं में समान समझना चरितार्थ हो जायेगा।" इस उत्तर से प्रसन्न होकर यक्ष ने सब भाइयों को जीवित कर दिया।

औपनिषदीय प्रश्नों के उत्तर पूछने वाले को भी ज्ञात होते हैं और बताने वाले को भी ज्ञात होते हैं तथापि यह शृङ्खला लोकज्ञानार्थ अथवा लोककल्याणार्थ प्रवृत्त होती है। इस प्रकार की प्रश्नोत्तर सत्र-परम्परा आध्यात्मिक स्तर के गूढार्थ का विवेचन करती है। हमारी परम्परा का घोष वाक्य भी इस परम्परा से पुष्ट होता है

वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः।

सन्दर्भ

1. *कठोपनिषद्*, 1/22
2. *कठोपनिषद्*, 1/27
3. शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्रीतमन्युगौतमो.....। *कठोपनिषद्* 1/10
4. *कठोपनिषद्* 1/3/5
5. *कठोपनिषद्* 1/3/14
6. *कठोपनिषद्*, 1/3/15
7. *प्रश्नोपनिषद्*, 1/4
8. *प्रश्नोपनिषद्*, 1/4
9. *यजुर्वेद*, 23/9/45
10. *आरण्यक पर्व*, 297/26-61
11. *यजुर्वेद* 33/8

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत-विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर।
ईमेल - saroj.kaushal64@gmail.com
आवास—73-बी, अभयगढ़,
के.वी. नं. 1 के सामने,
जोधपुर-342001
चलवाणी—9928024824

पाञ्चरात्रागम एवं भक्तितत्त्व विमर्श

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

पाञ्चरात्रागम एक प्राचीन आगमिक परम्परा है, साथ ही समस्त वैष्णव सम्प्रदायों का मूल भी है। 'महाभारत' से लेकर *'शिवमहिम्नस्तोत्र'* तक वेद, सांख्य-योग, पाशुपत एवं पाञ्चरात्र का स्वतन्त्र प्रामाण्य स्वीकृत रहा है। शिवमहिम्नस्तव में त्रयी सांख्य, योग और पशुपतिमत के साथ 'वैष्णव' मत की चर्चा की गयी है। यह वैष्णवमत 'पाञ्चरात्र' ही है। यद्यपि 'पाञ्चरात्र' शब्द के अर्थ के अनुसंधान एवं पाञ्चरात्र परम्परा के मूल के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने बहुत अटकल लगायी है, तथापि *'छान्दोग्य उपनिषद्'* में उल्लिखित 'एकायन' श्रुति को उसका मूल मानने में विवाद नहीं है। 'छान्दोग्य' उपनिषद् में भूमाविद्या के प्रसंग में 'एकायन' पद आता है। इसे आचार्य शंकर ने 'नीतिशास्त्र' कहा है किन्तु 'श्रुतप्रकाशिका' के अनुसार यह मान्यता सिद्धि के विरुद्ध है—यह 'एकायनश्रुति' रहस्यसम्प्रदाय के रूप में बहुत सी संहिताओं में तथा तदनुसारी प्रबन्धों में व्यवहृत एवं उदाहृत[1] हुई है। कहीं कहीं रहस्याम्नाय ब्राह्मण का भी उल्लेख है। इससे अनुमान किया जाता है कि 'एकायनशाखा' में मन्त्रभाग और ब्राह्मण भाग दोनों ही थे। *विष्णुसहस्रनाम* के कूरेशविरचित भाष्य में इस 'श्रुति' बहुत से वाक्य उद्धृत है। वहाँ इनके लिये सर्वत्र 'मूल' शब्द का प्रयोग है। अत: अनुमान किया जा सकता है कि एकायन' श्रुति की 'मूलश्रुति' के रूप में परम्परा में कहीं गयी है।[2] 'पाञ्चरात्र' की इस वेदमूलकता महाभारत में सुस्पष्ट रूप से स्वीकार की गयी है और 'एकायन' धर्म को समाचरित करने वालों को 'वासुदेवेकयाजी' शुद्ध 'भागवत' कहा गया है।[3]

पाञ्चरात्रों एवं पाशुपतों के सम्बन्ध में आचार्य कुमारिल और शंकर के विरोधी वचनों के बावजूद सभी धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने उनके प्रामाण्य को स्वीकार किया है।[4] *'ब्रह्मसूत्र'* के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद अर्थात् 'तर्कपाद' के अन्तिम अधिकरण को 'उत्पत्तिसमन्वयाधिकरण' नाम से कहा गया है। अनेक भाष्यकारों के मत से इस अधिकरण के बादरायण ने पाञ्चरात्र मत का निरास किया है। आचार्य शंकर के अनुसार "वेदों में उपदिष्ट मार्ग से परमेश्रेयस् की उपलब्धि न देखकर शाण्डित्य ने पाञ्चरात्र शास्त्र को प्राप्त किया। ऐसे वचन 'पाञ्चरात्र शास्त्र में मिलते हैं, इससे उनका वेदों के प्रति निन्दात्मक भाव प्रकट होता है।[5] आचार्य शंकर ने 'पाञ्चरात्र' के विरुद्ध दूसरा तर्क यह भी दिया है कि यहाँ पर वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति मानी गयी है। वासुदेव स्वयं परमात्मा, संकर्षण जीव, प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकार स्थानीय माने गये हैं। 'जीव' की उत्पत्ति मानना वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध हैं और कर्तृभूत

(जीव) संकर्षण से करणभूत मन की उत्पत्ति मानना भी असंगत और लोकानुभवविरुद्ध है।[6] किन्तु आचार्य रामानुज ने इस अधिकरण के प्रथम दो सूत्रों को पूर्वपक्ष सूत्र एवम् अन्तिम दो सूत्रों को समाधान सूत्र मानकर व्याख्या की है। पौष्कर, सात्त्वत तथा परमसंहिता के प्रमाण पर वे जीवोत्पत्तिवाद तथा कर्तृकरणवाद के आक्षेप का निरास प्रस्तुत करते हैं। उनका आशय है कि पाञ्चरात्र संहिताओं में जीव को नित्य ही माना गया है। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमशः जीव, मन एवं अहंकार तत्त्व के अधिष्ठातृ देवता हैं, इसलिये इनका 'जीव' आदि शब्दों से निर्देश उसी प्रकार देखा जाना चाहिए जैसे आकाश, प्राण आदि शब्दों से ब्रह्म के निर्देश को देखा जाता है।

आचार्य शंकर द्वारा उल्लिखित 'पाञ्चरात्र' मत 'महाभारत' के 'नारायणीयोपाख्यान' (अध्याय 339, श्लोक 36-41 तथा 72-73 में प्राप्त होता है। यहाँ उपलब्ध विवेचन से आचार्य रामानुज का मन्तव्य सुसमंजस है।

इस प्रकार 'पाञ्चरात्र' पर अवैदिकत्व के आरोप का निरास करने के लिए वैष्णवाचार्यों ने महान् प्रयास किया। यमुनाचार्य के 'आगमप्रामाण्य' तथा 'पाञ्चरात्ररक्षा' नामक ग्रन्थों में यह प्रयास सुस्पष्ट दिखाई पड़ता है।

वैष्णवागम आज तीन धाराओं में विभक्त दिखाई पड़ता है—वैखानस, पाञ्चरात्र और भागवत। तिरुपति बालाजी के मंदिर में भगवान् वेंकटेश्वर की अर्चना वैखानस पद्धति से की जाती है और वैखानस आगम के अनेक ग्रन्थ तिरुपति से प्रकाशित हुए हैं। श्रीरंगम् में पाञ्चरात्र पद्धति से अर्चन किया जाता है।[7] श्रीवैष्णव अथवा रामानुज सम्प्रदाय में पाञ्चरात्र संहिताओं का वेदों के समान ही आदर है। समस्त 'आलवार' साहित्य पाञ्चरात्र परम्परा से अनुप्राणित है। 'हयशीर्षपाञ्चरात्र' के आदिकाण्ड के द्वितीय पहल में पच्चीस पाञ्चरात्र संहिताओं तथा दस भागवत संहिताओं का उल्लेख है। पाञ्चरात्र संहिताओं के यही नाम अग्निपुराण के 39वें अध्याय में मिलते हैं। भास्करराय के अनुसार 'भागवत-सम्प्रदाय' स्वतंत्र सम्प्रदाय है और 'श्रीमद्भागवत' इसी सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। *'शक्ति-संगम-तन्त्र'* में तो वैष्णवों के दस विभाग का उल्लेख है—1. वैखानस, 2. राधावल्लभ, 3. गोकुलेश, 4. वृन्दावनी, 5. पाञ्चरात्र, 6. वीर वैष्णव, 7. रामानन्दी, 8. हरिव्यासी, 9. निम्बार्क और 10. भागवत।

इस विस्तृत परम्परा और विशाल साहित्य में पाञ्चरात्र आगम के विस्तृत साहित्य का विवरण बड़ौदा से दो खण्डों में प्रकाशित पाञ्चरात्रागम की ग्रन्थसूची में दिया गया है।[8] एच. डेनियल स्मिथ ने परिश्रमपूर्वक इसका विवरण दिया है। दक्षिण भारत में हो रहे कार्य के फलस्वरूप अब तक लगभग 300 पाञ्चरात्र आगम ग्रन्थों का पता लग चुका है।

परब्रह्म भगवान वासुदेव ही इस प्रस्थान में परमतत्त्व है। वह स्वेच्छया चतुर्धा अवस्थित होते हैं। *'पौष्करसंहिता'* का वचन है—

कर्तव्यत्वेन वे तत्र चातुरात्म्यमुपास्यते।
क्रमागतैस्स्वसंज्ञाभि ब्राह्मणे आगमं तु तत्।।

यह चातुरात्म्योपासन परबह्म वासुदेव की उपासना ही है। 'सात्त्वत संहिता' भी सद्ब्रह्म वासुदेव के यजन को इस प्रस्थान का प्रतिपाद्य कहती है और इसे 'ब्रह्मोपनिषद्' की संज्ञा देती है।

ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्म वासुदेवाख्यपातिताम्।
विवेदेदं परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं हितम्।।

वह वासुदेवाभिधान परब्रह्म 'षाड्गुण्यवपु' है। ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज—छः गुण हैं। पर वासुदेव में ये सभी गुण स्तिमितावस्था में विद्यमान रहते हैं। यह वासुदेव की नित्योदितावस्था है। शान्तोदितावस्था में ये गुण क्रियाशील हो उठते हैं, तब परवासुदेव व्यूहावस्था ग्रहण करते हैं। व्यूहावस्था की शुद्धसृष्टि है। व्यूह वासुदेव में सभी गुण उन्मेषावस्था में रहते हैं। संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न के ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेज का उन्मेष होता है। यह सब पर वासुदेव की ही अवस्थायें हैं। इस प्रकार कार्यविशेषता परवासुदेव ही इन चतुर्दूहों में अभिव्यक्ति होते हैं। पर व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार भेद से ईश्वर के पाँच रूपों का वर्णन है। रामानुजाचार्य ने भी *वादरायण सूत्र* 2/2/4/2 भाष्य में वासुदेव को ही परब्रह्म माना है और उनके सूक्ष्म, व्यूह और विभव रूपों की चर्चा की है। यहाँ वासुदेव के लिये 'सूक्ष्म' शब्द का प्रयोग हुआ है।

'अहंकार ग्रन्थि' का समतिक्रमण कैसे हो—यह समस्त भारतीय दर्शन की सामान्य समस्या है। इस अहंकार की प्रन्थि को खोल मोक्ष की समवाप्ति के लिये ज्ञान, कर्म और भक्ति मार्ग का उपदेश विभिन्न प्रस्थानों में स्वीय तत्त्वदर्शन के अनुसार किया गया है। पाञ्चरात्र आगम मोक्षोपाय के रूप में 'योग' एवम् 'प्रपत्ति' को प्रतिविहित करता है। 'नारायणीय पर्व' एवं *भगवद्गीता* में इसी 'प्रपत्ति' अथवा शरणागति का निर्देश है।

श्रुतिस्मृतीहासेषु प्रपत्तिनाम च विश्रुता।
तेषां तु तपसां न्यासमितिवृत्तं ततः श्रुतम्।।
ब्रह्मणे त्वामामहसत इत्यात्मानं नियोजयेत्।
अहं मुमुक्षुःशरणं प्रपद्य इति च श्रुतम्।।
प्रपन्न इन्द्रं शरणं सर्वस्य शरणं सुहृत्।
इत्यादयः श्रुतिशतं विश्रुतं शरणागताः।।
तामेव साक्षान्मोक्षस्य भक्तेरङ्गतयादि वा।
वदन्ति हेतुं श्रुतयः सेतिहासपुराणकाः।।
पाञ्चरात्रशास्त्रमपि साक्षान्मोक्षस्य हेतुताम्।

प्रपत्तेर्बोधानामैव प्रवृत्तमिति निर्णयः।।
पाञ्चरात्रस्य सारांशं संगृह्य व्यासमस्करी।
शान्तौ नारायणीयेन कृपदेव न्यरूपयत्।।[9]

श्रीमद्भगवद्गीता भी इसी नारायणीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश दिया किन्तु यह कर्म ईश्वरार्थ ही करणीय है, कर्मानुष्ठान ईश्वर के किङ्कर की भाँति ही करना होता है। कर्मयोग-निष्ठा का परम रहस्य ईश्वर की शरण में जाना है। आत्मा और ईश्वर में भेद को मानकर विश्वरूप परमेश्वर में चित्त का समाधान ही योग है और ईश्वरार्पण बुद्धि से ही कर्मानुष्ठानादि किया जाता है। अनन्य भक्ति को प्राप्त करके अपने कर्म से भगवान् के अर्चन से ज्ञाननिष्ठा की योग्यता मिलती है। भगवान् ने अनुग्रह की प्रतिज्ञा की है और भगवान् की इस प्रतिज्ञा में विश्वास के साथ भगवद्भक्ति के अवश्यम्भावी फल मोक्ष की उपलब्धि के प्रति आश्वस्त रहकर भगवान् की शरण में जाना चाहिए।

नारायणीय पर्व और *श्रीमद्भगवद्गीता* में उपदिष्ट भक्ति का यह स्वरूप संहिताओं में आगम की दृष्टि से विस्तार वर्णित है। पाञ्चरात्र आगम में उपास्य और उपासक के तादात्म्य को प्राप्त करने के लिए बाह्य एवं आन्तरिक वरिवस्या अथवा उपासना में भूतशुद्धि, प्राण प्रतिष्ठा, न्यास और मुद्रा के द्वारा उपासक की उपास्यरूपता सिद्ध कराने वाली उपासना एवं पूजा की पद्धति का वर्णन है। सिद्धान्त है—**'देवं भूत्वा देवं यजेत्।'** बाह्यपूजा की सार्थकता के बारे में सन्देह की आवश्यकता नहीं है। स्वभीष्ट को ध्यान में रखकर तथा अधिकारी के भेद को ध्यान में रखकर बाह्यपूजा से आरम्भ कर उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर पूजा में प्रवेश होता है। इसीलिए *अहिर्बुध्न्यसंहिता* 'भक्ति' के उदात्तस्वरूप को प्रकाशित करती है—

अहमस्म्यपराधानामालयो किञ्चनो गतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्।। — अध्याय 37, श्लो0 30-3

यह 'प्रपत्ति' भगवान के महात्म्यज्ञान से उपजने वाली प्रणति से सम्भव है। बिना अपने को सापराध, अकिञ्चन और अगति माने, उस अहंकार की गाँठ खुल नहीं सकती, जिसे खोलने के लिए सारा भारतीय दर्शन उपदेश देता है।

'प्रपत्ति' के छः अंग हैं—

षोढा हि वेदविदुषो वदन्त्येनं महामुने।।
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।। — *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, श्लोक. 27-29

लक्ष्मीतन्त्र में भी भक्ति के विषय में कहा है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोमृत्ववरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।
एवं मां शरणं प्राप्य वीतशोकभयक्लमः।। — *लक्ष्मीतन्त्रम्*-अध्याय 17

श्री वेदान्तदेशिक ने विभिन्न आगमादि ग्रन्थों के आधार पर निष्कर्ष रूप में पंचरात्र पद का स्वरूप बताते हुए कहा है कि श्रीविष्णु की अनन्य भाव से भक्ति का उपदेशक शास्त्र पाञ्चरात्र है। षड्विधाशरणागति इस दर्शन की मुख्य उपलब्धि है। इसमें द्वादश आलवार सन्तों-भक्तों की विशेष प्रतिष्ठा है।

षडङ्ग शरणागति—भगवान् को अनुकूल करने वाले कर्म का सङ्कल्प तथा भगवान के प्रतिकूल कर्म का परित्याग एवं भगवान् मेरी रक्षा अवश्य करेंगे—इस प्रकार का विश्वास, भगवान् ही हमारे रक्षक हैं, अपने को भगवान् में समर्पण और दैन्य—ये छः प्रकार की शरणागति कही गई है। इस प्रकार के आचरण से मेरी शरण में आया हुआ व्यक्ति शोक, भय और दुःख से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

लक्ष्मीतन्त्र में प्रथम दो प्रपत्ति की विधाओं 'अनुकूलस्य संकल्प' तथा 'प्रातिकूल्यवर्जन' का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि यहाँ ईश्वर में ही अनुकूल आचरण के संकल्प तथा प्रतिकूल आचरण के वर्जन की बात नहीं कही गयी है। 'सर्वभूतानुकूलता' भी उसी आनुकूल्य संकल्प में अन्तर्यामी रूप में अवस्थित होना है। प्रातिकूल्य वर्जन का अर्थ इसी प्रकार है। स्पष्ट है कि शरणागति मानव मात्र के लिए ही न होकर प्राणिमात्र के लिए है।

'अष्टाङ्ग भेद निर्णय' में निर्दिष्ट है कि आलवारों के मतानुसार 'मुक्ति में भगवान अपनी खोयी हुई वस्तु (आत्मा) पाते हैं। मुक्ति में भगवान् की असीम दासता है इसलिए मुक्ति भगवान् के लिए अर्थ रखती है, भक्त के लिए नहीं। भक्त का कोई स्वार्थ नहीं है।'[10] इस प्रकार भक्त के लिए मुक्ति नहीं भक्ति चाहिए।

भक्ति एक काया पलट देने वाली यौगिक शक्ति है। *जयाख्यसंहिता* में भक्त को योगी कहा गया है। अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए दो विधान वर्णित है—एक ध्यान-समाधि द्वारा और दूसरा मंत्र-जप की साधना द्वारा। योग के प्रसंग में यह निर्देश है कि योगी को अपने इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण रखना चाहिए और सभी प्राणी से द्वेष-रहित होना चाहिए।[11] अत्यन्त विनम्रता के साथ विजन देश में बैठकर प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियंत्रण करने का अभ्यासवर्णित है। प्राणायाम की तीन विधियाँ बतायी गयी है—प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणा।[12] पुनः योग के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है—जिन्हें प्राकृत, पौरुष तथा ऐश्वर्य कहा गया है[13] किन्तु इनके अर्थ को स्पष्ट नहीं किया गया है। डॉ. एस.एन. दासगुप्ता का कहना है[14] कि इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केन्द्रित करना है जैसे कि प्रकृति के मूल तत्त्वों पर, पुरुष तथा ऐश्वर्य विधायिनी सिद्धियों के दिलाने वाले योग पर। योग में चार प्रकार के आसनों का वर्णन उपलब्ध होता है

जिनके नाम क्रमशः पर्यङ्क, कमल, भद्र तथा स्वस्तिक है।[15] योग का परम उद्देश्य मनोनिग्रह है, उसे दो प्रकार का बताया गया है। प्रथम वातावरण से उत्तेजित मन की प्रवृत्तियों पर निग्रह करना और दूसरा मन की उन प्रवृत्तियों पर निग्रह करना, जो उसमें स्वाभाविक रूप से है।[16]

सत्त्वगुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर केन्द्रित किया जा सकता है।[17] शब्द, व्योम और स्वविग्रह नामक तीन प्रकार के योग का भी वर्णन वर्णित है।[18] अन्य वर्गीकरण के आधार पर, सकल, निष्कल तथा विष्णु अर्थात् सकल या स्वविग्रह नामक योग में योगी अभीष्ट देवता की स्थूल मूर्ति पर ध्यानस्थ होता है तत्पश्चात् क्रम से, जब वह ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है तब वह दीप्त गोल चक्र की कल्पना कर ध्यान केन्द्रित करता है, तदन्तर मटर जैसे छोटे परिणाम की वस्तु पर, पुनः अश्व के रोम जैसी सूक्ष्म वस्तु पर, इसके पश्चात् सिर के बाल पर, फिर शरीर के रोम पर ध्यान के निरन्तर अभ्यास की पूर्णता से ब्रह्मरन्ध्र का द्वार उसके लिए खुल जाता है।[19] निष्कल योग में योगी अन्तिम सत्य का ध्यान करता है जिससे वह स्वयं ब्रह्म रूप है, यह ज्ञान होता है।[20] तीसरे प्रकार के के योगों में मन्त्रों पर ध्यानस्थ रहना पड़ता है जिसके द्वारा भी योगी को अन्तिम सत्य की प्राप्ति होती है। योगाभ्यास द्वारा योगी अन्त में ब्रह्मरन्ध्र के द्वार से निकल जाता है, अपना शरीर त्याग देता है तथा मूल सत्य रूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[21]

पाञ्चरात्रागम यह मानता है कि जीव ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत है और मुक्तावस्था में उसी में सन्निविष्ट हो जाता है जबकि रामानुज यह मानते हैं कि जीव का स्थायी अस्तित्व नहीं है।[22] इसी प्रकार रामानुज के अनुसार जीव की अनेकता जागतिक सत्य मानी जाती है जबकि पाञ्चरात्र इसे कूटस्थ पुरुष से सृष्टि के उपरान्त प्रादूर्भूत मानता है।[23] पाञ्चरात्र आगम में मुक्ति का स्वरूप अद्वैत वेदान्त के मोक्ष के सिद्धान्त के अधिक निकट है जिसे हम वेद की भाषा में 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'[24] कह सकते हैं।

सन्दर्भ

1. *दर्शनोदय*, पृ. 514, लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1933
2. वही, पृ. 515
3. वही, पृ.514
4. अपरार्क, *याज्ञवल्क्यस्मृति टीका*, भाग-1, पृ. 10-19, आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, 1903 ईसवाय।
5. "चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयो लब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्' इत्यादि वेदनिन्दादर्शनात्'- *शांकरभाष्य* 2.2.45
6. वही, 2.2.42-43
7. *जयाख्यसंहिता* विभिन्न संहिताओं के अधिकार क्षेत्र का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है—
   सात्वतं यदुशैलेन्द्र श्री रङ्गे पौष्कर तथा।
   हस्तिशेले जयाख्यं च सामाज्यधितिष्ठति।।
   पाञ्चतन्त्र हस्तिशैले श्री रहे पारमेश्वरम्।
   ईश्वर यादवाद्रौ च कार्यकारि प्रचार्य्यते।। — *जयाख्यसंहिता*, पृ. 8-9, बड़ौदा, 1967

8. ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1980
9. *दर्शनोदय*, पृ. 507
10. *भारतीय दर्शन का इतिहास*, एस.एन. दासगुप्त, भाग-3, पृ. 82
11. भूतद्रोहपरित्यागी आस्ते यः संयतेन्द्रियः। — *जयाख्यसंहिता*, 33/3ए।
12. तत्रैव, 33/7-10-ए।
13. योगोऽपि त्रिविधः प्रोक्तस्तं च कात्स्येन मे शृणु।
प्राकृतं पौरुषं चैव ऐश्वयं च तृतीयकम्।। -तत्रैव, 33/12 बी-13ए।
14. *भारतीय दर्शन का इतिहास*, भाग-3, हिन्दी अनुवाद, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1974, पृ. 28
15. *जयाख्यसंहिता*-33/7-10-ए।
16. तत्रैव-33/27
17. *जयाख्यसंहिता*-33/30
18. *जयाख्यसंहिता*-33/32-33
19. *जयाख्यसंहिता*-33/34-44
20. तत्रैव-33/45-46
21. निरुद्धं सन्धिमार्ग तु कृत्वा देहसमीरणम्।
मुक्त्वा सद्ब्रह्मरन्ध्रेणत्क्रान्ति करणेन तु।।
ध्यात्त्वा परित्यजेद्देहं नित्याभ्यासरतो यदि।
स परब्रह्मपरमभ्येति वासुदेवाख्यमव्ययम्।। — *जख्याख्यसंहिता*-33/58-59
22. *दी फिलासफी आफ पाञ्चरात्र* By एस.आर. भट्ट, पृ. 83 बुटाला एण्ड कम्पनी, बड़ौदा।
23. तत्रैव, पृ. 86
24. *ऋग्वेद* 1/22/20

धर्मागम-विभाग,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय
वाराणसी-5
चलवाणी—9452823899

हमारी साधनाओं का मूलाधार 'हृदय'

महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री

भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य ने 'हृदय' को गहराई से समझा है, उसके प्रत्येक आयाम को परखा है, उसकी हर धड़कन सुनी है और उसे मजबूत बनाए रखने के अनेक उपाय अपनाए हैं। साहित्य तो हृदय से दृश्य की बात पहुँचाने का ही माध्यम है अत: उसने तो हृदय को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। केवल सहृदय व्यक्ति ही साहित्य की गहराई तक जा सकता है यह साहित्यकारों का सिद्धान्त है। साहित्य हृदय को छू लेता है, हृदय की गहराई तक पहुँचता है यह कहा जाता रहा है। साहित्य का यह हृदय शरीरविज्ञान वाला हृदय नहीं है जो रक्त प्रवाह को नियन्त्रित करता है। साहित्य का हृदय भावनाओं, संवेदनाओं आदि से ही संबद्ध रहता है अत: यह मन, अन्तःकरण और अन्तश्चेतना के पर्याय के रूप में ही यहाँ प्रयुक्त हुआ है। आजकल जिस हृदय ने विश्व को आन्दोलित कर रखा है, जिन हृदय रोगों, हृदयाघातों आदि के लिए अस्पताल कमाई कर रहे हैं वह हृदय कुछ अलग है किन्तु उसका भी गहरा विवेचन भारतीय वाङ्मय में हुआ है। शरीर के एक प्रमुख अङ्ग के रूप में जीवन को नियन्त्रित करने वाले हृदय को समझने और उसे स्वस्थ रखने का भी समुचित प्रयास भारतीय मनीषी नाट्यशास्त्रियों से करते-करवाते रहे हैं। इससे सम्बन्धित प्रभूत साहित्य भी भारत में उपलब्ध है। विश्व की प्राचीनतम भाषा संस्कृत में उस हृदय पर भी बहुमूल्य जानकारी निहित है।

हृदय को स्वस्थ रखने के उपाय, उसकी चिकित्सा आदि पर विपुल जानकारी आयुर्वेद में तो उपलब्ध है ही जिस पर इन दिनों हिन्दी में बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु उपनिषदों में, विशेषकर योग और तन्त्र से सम्बद्ध वाङ्मय में हृदय पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष और प्रतीकात्मक रूप में इतना लिखा गया है जिसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। आज योग 'योगा' बनकर विश्वभर में अपने झंडे गाड रहा है। अनेक योगगुरु इसके बल पर पुज रहे हैं। योग से शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं, हृदय सशक्त रहता है। यह योग योगगुरुओं का दावा है। इसके लिए आसन, प्राणायाम, कपालभांति आदि क्रियाएँ तो बताई ही जाती है, कुछ शास्त्रज्ञ योगगुरु इनसे सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थों का नाम भी कभी-कभी ले लेते हैं। इनमें से अधिकांश संस्कृत भाषा से परिचित नहीं है, उस पर अधिकार नहीं रखते इसलिए मूल शास्त्रों को वे बहुधा उद्धृत नहीं करते यह बात अलग है किन्तु प्राचीन शास्त्रों में जिस प्रकार हृदय तंत्र का जिस प्रकार वर्णन किया गया है वह आज भी चमत्कारजनक है, उपयोगी है। उसका गहन अध्ययन नहीं हो पाया है किन्तु शोधार्थियों द्वारा ऐसा किया जा सकेगा यह आशा बँधी हुई है।

योगदर्शन और शास्त्र ने शरीर की महत्त्वपूर्ण तन्त्रजालों की स्थितियों का विशद किन्तु प्रतीकात्मक वर्णन किया है। आयुर्वेद की प्रत्यक्षशारीरक शाखा जो इन अंगों का शरीर के अवयवों के रूप में वर्णन करती है किन्तु योग ने इन तन्त्रजालकों को अत्यन्त सुकुमार होने के कारण कमल का प्रतीक लेकर वर्णित किया है। शरीर के इन छह तन्त्रजालकों को योग 'षट्चक्र' कहता है। प्रत्येक चक्र को कमलदल 'पद्म' का नाम दिया गया है और तन्त्रिकाओं की संख्या के आधार पर इन पद्मों को चतुर्दल, षड्दल, अष्टदल आदि कह कर कमल के रूप में इनका विवरण दिया गया है। इसके साथ ही इनका आकार भी ज्यामितिय विधि से चतुष्कोण, षट्कोण आदि रूपों में वर्णित है। इस कोण चित्रण को प्रतीकात्मक होने के कारण तन्त्रशास्त्र ने भी स्वीकार किया है। तान्त्रिक क्रियाओं और शास्त्रों में जो यन्त्रपूजन होता है, तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र के साथ जो शास्त्र आदि उपासनाएँ की जाती उनमें भी उनमें भी इन चक्रों का पूजन प्रतीकात्मक साधना के रूप में किया जाता है।

मानव शरीर के नीचे से लेकर ऊपर तक विद्यमान उन तन्त्रजालकों को जो सबसे ऊपर स्थित मस्तिष्क को जीवनी शक्ति पहुँचाते हैं उन्हें छह चक्रों का नाम दिया गया है। सबसे नीचे मूलाधार चक्र, उससे ऊपर स्वाधिष्ठान, नाभि में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कंठ में विशुद्ध और भौंहों के बीच आज्ञाचक्र। ये सब मस्तिष्क में स्थित बिन्दु चक्र अर्थात् सहस्रदल कमल को जीवनी शक्ति पहुँचाते हैं। मस्तिष्क की अनन्त नाड़ियों, जिन्हें आजकल 'न्यूरोन' कहा जाता है सहस्रदल कमल के रूप में 'सहस्रार' नाम से वर्णित है तथा ये षट्चक्र क्रमशः चतुर्दल, षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल और द्विदल कमल के रूप में वर्णित है जिन्हें योग विद्या पूरी तरह समझती है। इन्हें नक्शे के रूप में ज्यामितिक आकार देते हुए यंत्रों का रूप भी दिया गया है और क्रमशः चतुष्कोण, गोल, त्रिकोण, षट्कोण, कुछ गोल और लिङ्गाकार, इस प्रकार के नक्शे से समझाया गया है। योगविद्या को व्यावहारिक रूप से समझने हेतु जो ग्रन्थ पिछले दिनों लिखे गये हैं उनमें भी यह सब स्पष्ट किया गया है। पं. डॉ. राधेश्याम परमहंस ने जो योगाचार्य भी हैं, त्रिपुराम्बा प्रकाशन से '*षट्चक्रध्यानयोग*' नामक जो पुस्तक निकाली है उसमें भी इसका विशद विवरण है।

योग के इन षट्चक्रों में हृदय को अनाहत चक्र के रूप में, द्वादशदल कमल के रूप में तथा षट्कोण यन्त्र के रूप में वर्णित किया गया है। तन्त्रोपासना में भी स्थान-स्थान पर षट्कोणयंत्र की पूजा होती है। यह हृदय से ही सम्बद्ध है। हृदय के द्वादशदल रक्त को लाने-ले जाने-पहुँचाने और नियंत्रित करने का कार्य किस प्रकार करते हैं यह भी प्रतीकात्मक रूप से समझाया जाता है। कुछ विद्वान् तो इसीलिए हृदय शब्द का भी विश्लेषण कर समझाते हैं कि इसमें ह्=हरण करने अर्थात् रक्त को ले जाने का सूचक है। द=रक्त को देने का तथा य=यंत्रित अर्थात् नियंत्रित करने का सूचक है। इन द्वादश दलों के बीजमंत्र भी बनाए गए हैं।कं खं गं घं से लेकर टं ठं तक, इनकी काकिनी शक्ति, ईशान देव, मृग वाहन और वायु तत्त्व बतलाए गए हैं जो विवरण रक्तप्रवाह के विभिन्न प्रतीकों से पूरी तरह सामंजस्य रखता है। योगक्रियाओं के समय ध्यान के लिए

योगगुरु विभिन्न प्रकार की साधनाएँ बतलाते हैं, ध्यान और एकाग्रता से हृदय को बल मिलता है यह भी समझते हैं। रक्त का प्रवाह सदा समान, सतत, अनाहत रहना चाहिए, इसीलिए इसे अनाहत चक्र कहा गया है।

योगशास्त्र के इन विवरणों को प्रतीकात्मक रूप से समझ लेना सरल नहीं है किन्तु यौगिक क्रियाओं द्वारा हृदय को स्वस्थ रखने की जो साधना बतलाई जाती है वह सबको समझ में आ सकती है। इसीलिए 'योगा'विश्व में लोकप्रिय हो रहा है। प्राणायाम से हृदय की रक्तवाहिनी नाड़ियों को लाभ पहुँचता है। यह तो स्पष्ट ही है कि कपालभाति यद्यपि अन्त्रजाल को स्वस्थ रखने का प्रमुख कार्य करती है किन्तु उससे हृदय को भी लाभ पहुँचता है। इसी प्रकार अनेक योगासन ऐसे हैं जो हृदय को स्वस्थ रखने में मदद करते हैं। सूर्यनमस्कार से भी हृदय को लाभ पहुँचता है। तभी तो हमारे यहाँ सदियों से प्रतिदिन के धार्मिक कृत्यों में, संध्यावन्दन में, प्राणायाम, सूर्यनमस्कार, आसन आदि दिनचर्या के अंग के रूप में इस प्रकार विहित किये गये है कि यह जीवनशैली का अंग बन जाए।

हृदय को स्वस्थ रखने हेतु आधिभौतिक उपायों में आहार का नियंत्रण और जड़ी-बूटियों, फलों, गुणकारी वनस्पतियों, सात्त्विक अन्नों आदि से बने भोज्य पदार्थों के सेवन का विधान किया जाता रहा है। गीता भी स्पष्ट कहती है कि 'रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विक प्रिया:' (अध्याय 17/8) अर्थात् सात्त्विक लोग ऐसे आहार लेते हैं जो हृदय को बल दें। हृदय के लिए हितकारी कौन-कौन-से आहार होते हैं इसका विवरण तो इन दिनों सर्वत्र उपलब्ध है। कोलेस्ट्रोल से कैसे बचे इस बारे में प्रबुद्ध व्यक्ति सतर्क रहते हैं। पहले भी विधान किए जाते रहे हैं कि गोघृत निरापद रहता है, तामस पदार्थ हृदय के लिए अहितकर हैं। इस प्रकार हृदय के भौतिक रूप का भी विस्तृत विवेचन भारतीय साहित्य में मिलता है। हृदय को निर्मल रखने के लिए ईर्ष्या द्वेष न करने, तनाव से मुक्त रहने, ध्यान आदि करने के आध्यात्मिक उपाय तो सुविदित हैं ही।

प्रधान सम्पादक,
'भारती' संस्कृत मासिक,
सी-8, पृथ्वीराज रोड,
सी-स्कीम, जयपुर-302001
0141-2376008
8764044066

अजपाजपविधि का स्वरूप व रहस्य

प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

मानव-शरीर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ है। यदि शास्त्र के अनुसार इसका उपयोग किया जाय तो मनुष्य ब्रह्म को भी प्राप्त कर सकता है। इसके लिए शास्त्रों में बहुत-से साधन बतलाये गये हैं। उनमें सबसे सुगम साधन है—'अजपाजप'।

'न **जप्यते, नोच्चार्यते (अपितु श्वासप्रश्वासयोर्यमनागमनाभ्यां सम्पाद्यते) इति अजपा।**' (*शब्दकल्पद्रुम*) अर्थात् बिना जप एवं उच्चारण किये केवल श्वास के आने-जाने से जो जप सम्पन्न होता है, उसे 'अजपा' कहते हैं। *अग्निपुराण* में बतलाया गया है कि श्वास-प्रश्वास द्वारा 'हंस:' 'सोऽहं' के रूप में शरीर स्थित ब्रह्म का ही उच्चारण होता रहता है, अत: तत्त्ववेत्ता इसे ही 'जप' कहते हैं—

उच्चरति स्वयं यस्मात् स्वदेहावस्थित: शिव:।
तस्मात् तत्त्वविदां चैव स एव जप उच्यते।। (214/24)

इस साधन से पता चलता है कि जीव पर भगवान् की कितनी असीम अनुकम्पा है। अजपाजप का संकल्प कर लेने पर चौबीस घंटों में एक क्षण भी व्यर्थ नहीं हो पाता—चाहे हम जागते हों, स्वप्न में हों या सुषुप्ति में हों, प्रत्येक स्थिति में 'हंस:' का जप श्वास-क्रिया द्वारा अनायास होता ही रहता है।

उच्छ्वासश्चैव नि:श्वासो हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राणस्थहंसाख्य आत्माकारेण संस्थित:।।

परमात्मा को 'हंस' इसलिए कहा जाता है कि वह जीवों के भटकाव का हनन कर देता है—

'हन्ति जीवसंसारमिति हंस:।' (*उत्तरगीता* 1/5 में गौडपादाचार्य)

भगवान् ने हंसावतार धारण भी किया। (देखिये—*श्रीमद्भागवत* 11/13)

संकल्प कर देने से यह जप मनुष्य द्वारा किया हुआ माना जाता है।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
तस्या: संकल्पमात्रेण जीवन्मुक्तो न संशय:।। (*आचार्यरत्न में अङ्गिरा*, आचारभूषण, पृ. 2)

अजपाजप तन्त्रसाधना में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भगवद्गीता के अनुसार सभी यज्ञों में जपयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' अजपाजप की शास्त्रीय विधि को सामान्य साधक नहीं समझते हैं परन्तु यह यज्ञ बड़ा उपयोगी है। विविध साधना पद्धतियों में इसका भिन्न-भिन्न नाम है। हमारे श्वास एवं प्रश्वास की निरन्तर चलने वाली गति में मन्त्र की भावना करनी होती है। यह साधना स्वाभाविक साधना है। इसके ध्यान द्वारा स्वाभाविक स्थिति की प्राप्ति होती है। हमारे श्वास में 'हं' एवं 'स:' दो ध्वनि स्वयं उच्चरित होती है। 'हं' का अर्थ पुरुष या अपान या अहं माना गया है तथा 'स:' का अर्थ इसी प्रकार प्रकृति या प्राण या ब्रह्म माना गया है। इन अजपाजप के द्वारा अन्तर्लीन होते हुए पर तत्त्व की साधना की जा सकती है। इसके दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक स्वरूप की विस्तृत व्याख्या श्री गोपीनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ *भारतीय संस्कृति और साधना* में 'अजपारहस्य' नामक लेख (पृ. 341-355) में की है जिज्ञासु साधक वहीं देखे। अजपा जप की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। श्रीविद्या के समयाचार में प्रवर्तित विधि का स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

शरीर के मेरुदण्ड में स्थित छह या सात या उससे अधिक चक्रों में किस प्रकार किन देवताओं को प्रतिदिन के 21600 श्वास समर्पित किये जाते हैं? इसका विधान जानना आवश्यक है—

सदा प्रभातसमये बद्धपद्मासनः स्थितः।
षट् चक्रचिन्तनं कुर्याद्यथोक्तमजपाक्रमम्।
अजपानाम गायत्री मुनीनां मोक्षदायिनी।
अस्या सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।। — *गरुड़पुराण सारोद्धार,* 15.69-70

प्रातःकाल बद्ध पद्मासन में स्थित होकर षट्चक्रों में अजपा के अर्चन को करना चाहिये जिससे जीव शिव भाव को प्राप्त करता है। यह अजपा गायत्री का जप मौन साधकों को मोक्ष देने वाला एकमात्र साधन है तथा समस्त पाप का विनाश करने वाला है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा नामक छह चक्र होते हैं। इसमें प्रथम मूलाधार में, द्वितीय लिङ्गदेश में, तृतीय नाभिप्रदेश में, चतुर्थ हृदय में, पञ्चम कण्ठ में, षष्ठ भ्रूमध्य में तथा सप्तम ब्रह्मरन्ध्र में अधोमुख सहस्रार कमल के रूप में चिन्तन किया जाता है। (15.71-78) मूलाधार चक्र में कुंकुम वर्ण के चार दल हैं, चार वर्ण हैं, स्वाधिष्ठान में सिन्दूर वर्ण के छह दल हैं तथा छह वर्ण है। मणिपूरक में नीलाभ रक्तवर्ण के दश दल है तथा अनाहत में हेमवर्ण के द्वादश दल हैं। विशुद्धि में स्फटिक वर्ण के षोडशदल तथा आज्ञा चक्र में विद्युद्वर्ण के द्विदल हैं। उसके ऊपर सहस्रदल कमल में नानावर्ण के वर्ण हैं। इनमें परब्रह्म का चिन्तन किया जाता है—

आधारं तु चतुर्दलानलसमं वासान्तवर्णाश्रयम्।
स्वाधिष्ठानमपि प्रभाकरसमं बालान्तषट्पत्रकम्।
रक्ताभं मणिपूरकं दशदलं डाद्यं फकारान्तकम्।
पत्रैर्द्वादशभिस्त्वनाहतपुरं हेमं कठान्तावृतम्।।

पत्रै सस्वरषोडशैः शशधरज्योतिर्विशुद्धाम्बुजम्।
हंक्षेत्यक्षरयुग्मकं द्वयदलं रक्ताभमात्राम्बुजम्।
तस्मादूर्ध्वगतं प्रभासितमिदं पद्मं सहस्रच्छदम्।
सत्यानन्दमयं सदा शिवमयं ज्योतिर्मयं शाश्वतम्।
गणेशं च विधिं विष्णुं शिवं जीवं गुरुं ततः।
व्यापकं च परं ब्रह्म क्रमाच्चक्रेषु चिन्तयेत्।। —*गरुड़पुराण सारोद्धार,* 15.**74**-7**6**

षट्चक्र के देवता—गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीव, गुरु तथा परब्रह्म है इनका सपत्नीक रूप में ध्यान किया जाता है—

शक्तिः सिद्धिर्गणेशस्य ब्रह्मणश्च सरस्वती।
लक्ष्मी नारायणस्यापि पार्वती च पिनाकिनः।।
अविद्या चैव जीवस्य गुरोर्ज्ञानं परापरम्।
मोक्षबीजात्मिका विद्या शक्तिश्च परमात्मनः।। —*रुद्रायामल, पृ. 188*

श्रीतत्त्वचिन्तामणि के छठे अध्याय **षट्चक्रनिरूपण** में देवता का स्वरूप भिन्न प्रकार है जो प्रस्थान भेद के अनुसार है। वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, प्रणव तथा परमशिव देवता कहे गये हैं। अतः साधक को देवता अपने गुरुपरम्परा से प्राप्त देवताओं का ध्यान करना ही श्रेयस्कर है। सभी सम्प्रदायों ने अपनी परम्परा के अनुसार उनका स्वरूप निर्धारित कर रखा है। *श्रीविद्या रत्नाकर* (पृ. 79-80) में श्रीविद्या साधकों के द्वारा करणीय अजपाविधान का स्वरूप इस प्रकार है—

अजपाजपविधिः

अथ पूर्वेद्युः सूर्योदयादारभ्याद्यसूर्योदयपर्यन्तं षट्शताधिकैक-विंशतिसाहस्रिकां निःश्वासोच्छ्वासरूपिणीमजपां मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तसप्तचक्रनिवासिनीभ्यो देवताभ्यो निवेदयिष्ये, इति सङ्कल्प्य क्रमशो निवेदयेत्। यथा-

मूलाधारे चतुर्दलपद्मे वं शं षं सं चतुरक्षरे चतुष्कोणयन्त्रे ऐरावतवाहने लं बीजे स्थिताय सिद्धिबुद्धिसहिताय कुङ्कुमवर्णाय महागणपतये षट्शतमजपाजपं निवेदयामि।

स्वाधिष्ठाने षड्दलपद्मे बं भं मं यं रं लं षडक्षरे अर्धचन्द्रे यन्त्रे मकरवाहने वं बीजे स्थिताय सरस्वतीशक्तिसहिताय सिन्दूरवर्णाय ब्रह्मणे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

मणिपूरचक्रे दशदलपद्मे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दशाक्षरे त्रिकोणयन्त्रे मेषवाहने रं बीजे स्थिताय लक्ष्मीशक्तिसहिताय नीलवर्णाय विष्णवे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

अनाहतचक्रे द्वादशदलपद्मे कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं द्वादशाक्षरे षट्कोणयन्त्रे हरिणवाहने यं बीजे स्थिताय पार्वतीशक्ति-सहिताय हेमवर्णाय परमशिवाय षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

विशुद्धिचक्रे षोडशदलपद्मे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः षोडशाक्षरे शून्ययन्त्रे हस्तिवाहने हं बीजे स्थिताय प्राणशक्तिसहिताय शुद्धस्फटिकसङ्काशाय जीवाय सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि।

आज्ञाचक्रे द्विदलपद्मे श्वेतवर्णे हं क्षं द्व्यक्षरे लिङ्गयन्त्रे नरवाहने प्रणवबीजे स्थिताय ज्ञानशक्तिसहिताय विद्युद्वर्णाय गुरवे सहस्रमेक-मजपाजपं निवेदयामि।

ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलपद्मे चित्रवर्णे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं इति विंशतिवारोच्चारिते सहस्राक्षरे विसर्गयन्त्रे बिन्दुवाहने पूर्णचन्द्रमण्डले आनन्दमहासमुद्रमध्ये चिन्मयमणिद्वीपे चित्सारचिन्तामणिमयमन्दिरे कल्पवृक्षाधस्तले अव्याकृत-ब्रह्ममहासिंहासने स्थिताय नानावर्णाय वर्णातीताय चिच्छक्तिसहिताय परमात्मने सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि। (इति निवेदयेत्।)

(अथ कतिचित् क्षणान् 'हंसः सोऽहम्' इति श्वासोच्छ्वासेषु भावयेत्।)

हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत् पुनः।
हंसोऽतिपरमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

(इति ध्यात्वा मानसैरुपचारैः सर्वान् देवान् पूजयेत्।)

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि। (कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाभ्याम्)।
हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि। (अङ्गुष्ठतर्जनीभ्याम्)।
यं वाय्वात्मकं धूपमाघ्रापयामि। (तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्याम्)।
रं वह्न्यात्मकं दीपं दर्शयामि। (अङ्गुष्ठमध्यमाभ्याम्)।
वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि। (अङ्गुष्ठानामिकाभ्याम्)।
सं सर्वात्मकं ताम्बूलादिसर्वोपचारान् समर्पयामि। (साङ्गुष्ठाभिः सर्वाभिरङ्गुलीभिः)।

अजपा-जप एवं षट्चक्रोंके देवता

स्वस्थ पुरुषके चौबीस घंटेमें 21,600 श्वास-प्रश्वास होते हैं, इन श्वास-प्रश्वासों में 'हंसः', 'सोऽहं' इस मन्त्र का निरन्तर जप स्वाभाविक रूप से अनायास होता रहता है। इसीको अजपा-जप कहते हैं।

मनुष्य के शरीर में षट् चक्र हैं। उनमें सब देवताओं का निवास है। यदि प्रातःकाल सूर्योदय के समय यह अजपा-जप उन-उन देवताओं को संकल्पपूर्वक समर्पण कर दिया जाता है तो एक बड़ा यज्ञानुष्ठान सम्पन्न हो जाता है।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञा—ये षट् चक्र हैं—

मूलाधारचक्र—यह चक्र उपस्थ और पायु के मध्य में है। यह चार दल का पद्म है। इसके चार दलों में **वं शं षं सं**—ये चार वर्ण हैं। इसका कुंकुम वर्ण है। सिद्धि-बुद्धिसहित महागणपति देवता यहाँ विराजमान हैं। इनको छः सौ मन्त्र श्वास-प्रश्वास रूप समर्पित किये जाते हैं।

स्वाधिष्ठानचक्र—यह उपस्थ के ऊपरी भाग में है। यह षट्दल-पद्म है और **बं भं मं यं रं लं**—ये छः अक्षर इनमें हैं। इसका वर्ण सिन्दूर के समान है। अपनी शक्ति भगवती सरस्वती के साथ भगवान् ब्रह्मा यहाँ विराजमान हैं। इनको छः हजार जप समर्पित किया जाता है।

मणिपूरचक्र—यह नाभि में है। यह दस दलों का पद्म है। इसमें **डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं**—ये दस अक्षर हैं। इसका वर्णन नील है। लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णु इसमें विराजमान हैं। इनको छः हजार जप समर्पित किया जाता है।

अनाहतचक्र—यह चक्र हृदय में है। यह द्वादशदल पद्म है। इसमें **कं** से **ठं** तक द्वादश वर्ण हैं। इसका हेम वर्ण है। पार्वतीसहित परम शिव इसमें विराजमान रहते हैं। इसमें छः हजार जप समर्पित किया जाता है।

विशुद्धिचक्र—यह कण्ठ में है। यह षोडशदल का पद्म । इसमें **अं** से लेकर **अः** तक सोलह स्वर पद्म के पत्रों में हैं। उनका शुद्ध स्फटिक के समान वर्ण है और इसमें प्राणशक्ति सहित जीवात्मा विराजमान है। इसको एक हजार जप समर्पित होता है।

आज्ञाचक्र—यह भ्रूमध्यमें स्थित है। यह द्विदल-पद्म है। इसमें **हं क्षं**—ये दो वर्ण पद्म पत्रों में हैं। ज्ञान शक्तिसहित गुरु देवता इसमें विराजमान हैं। इन्हें एक हजार जप किया जाता है। इसका विद्युद्वर्ण है।

इन छः चक्रों के बाद मेरुदण्ड के ऊपरी सिरे पर सहस्रदल-पद्मयुक्त सहस्रारचक्र है। पूरी पञ्चाशत् मातृका के वर्णों (पचास वर्णों) को बीस बार उच्चारण करने से एक सहस्र मातृकाएँ हो जाती हैं और इसी के हजार दलों में ये मातृकाएँ हैं। नानावर्णयुक्त वर्णातीत पूर्णचन्द्रमण्डलयुक्त इस चक्र में चिच्छक्तिसहित परमात्मा विराजमान हैं। इनको एक सहस्र जप समर्पित किया जाता है। फिर हस्त मुद्राओं के साथ मानसिक रूप से पञ्चोपचार (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य तथा ताम्बूलादि उपचार) समर्पित करने चाहिए।

इस प्रकार संकल्पपूर्वक जप समर्पण करके '**हंसः**' में '**सोऽहं**' की भावना की जाती है और फिर दूसरे दिन 21,600 जप अनायास होता है। उसे भी इसी प्रकार समर्पित किया जाता है। (इसकी समर्पण-विधि *श्रीविद्यारत्नाकर* आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से वर्णित है, जिसका सार यहाँ निवेदित है।)

अजपाजप का रहस्य

मन्त्रयोग के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण व षट्चक्रों का भेदन किया जाता है। इससे तत्तत् सिद्धियों की प्राप्ति होती है। मन्त्र सिद्ध होने पर कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्णा मार्ग से शिरःस्थ ब्रह्मरन्ध्र में जाती है। वहाँ शिव-शक्ति का समायोग होने से वहाँ स्थित चन्द्रमण्डल से अमृतधाराएँ निकलती हैं, इससे योगी का शरीर

उद्दीप्त हो जाता है। इसके लिये सद्गुरु के द्वारा मन्त्र प्राप्त करके उसका विधिवत् पुरश्चरण करने से जब मन्त्र चैतन्य हो जाय तो षट्चक्र-भेदन की क्रिया मन्त्रयोग के द्वारा सुगम हो जाती है।

सांसारिक जितनी भी सम्पत्तियाँ हैं यदि वे किसी एक ही मनुष्य को मिल जायँ तो भी वह अपूर्ण ही रहता है और उसकी कई प्रकारकी इच्छाएँ बनी ही रहती हैं। जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म में समस्त ज्ञान, समस्त शक्ति, समस्त विद्या, अनन्त शासनसत्ता आदि सब शक्तियाँ हैं। जीव भी उसी का अंश होने से उसको जब ये सब शक्तियाँ प्राप्त हों तब वह भी पूर्ण हो जाता है। शास्त्रों में ब्रह्म सम्मिलन-योग्य शरीर बनाने का विधान है—'**महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः**।' *(याज्ञवल्क्य स्मृति)*

यज्ञ और महायज्ञों के द्वारा इस शरीर को ब्रह्मसम्मिलन-योग्य बनाए जाता है। इसलिये मनुष्य-शरीर में स्थित जो देवता हैं, उनकी उपासना की जाय तो शीघ्र ही शरीर शुद्ध, पवित्र और ब्रह्म सम्मिलन-योग्य हो जाता है। इसीलिये कहा गया है—'यह शरीर देवालय है और इसमें स्थित जीवरूप भगवान् के साथ अनेक देवता विराजमान रहते हैं'—**देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः**

तन्त्र साधना में वस्तुत: अजपाजप विधि से जीव अपने वास्तविक शिव रूप को प्राप्त कर सकता है। यह साधना देह से देही की दिव्यता की ओर प्रवर्तित होती है। अहं में अ से लेकर ह तक के समस्त वर्ण आ जाते हैं अत: अहं सम्पूर्ण ब्रह्म या विश्व का प्रतीक है। वही संक्षिप्त रूप में 'हं' तथा 'स:' तत्त्व शक्ति है, प्रकृति या माया है। सहस्रार के मध्य हंस पीठ है उस पर परम गुरु या ब्रह्म का चिन्तन किया जाता है—

हंसपीठे मन्त्रमये स्वगुरुं शिवरूपिणम्।
अमुकानन्दनाथान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्।। — *प्रपञ्चसारतन्त्र।*

परमात्मा की साधना तन्त्रागम में गुरुरूप में ही स्वीकृत है—

अत: एव शिव: साक्षाद् गुरुरूपं समाश्रित:।
भक्त्या सम्पूजितो देवि भुक्तिं मुक्तिं प्रयच्छति।। — *कुलार्णवतन्त्र*

हंस ध्वनि ही बिन्दु और विसर्ग मानी गई है। इसे ही पुरुष एवं प्रकृति भी कहा गया है इसलिये हंस अन्तरात्मा का वाचक है। इस जप को करके ही वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार साधना का मूल मार्ग यही है। षट्चक्रों में सम्पूर्ण मातृका ही 50 दलों के रूप में ध्येय है। सहस्रार में भी मातृका20 बार पढ़कर सहस्राक्षरा हो जाती है। हंस की महिमा आचार्य शंकर *प्रपञ्चसार* (4-19) में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

हंकारो बिन्दुरित्युक्तो विसर्ग: स: इति स्मृत:।
बिन्दु: पुरुष इत्युक्तो विसर्ग: प्रकृति: स्मृता।
पुं प्रकृत्यात्मको हंस: तदात्मकमिदं जगत्।

अत: सृष्टि 'हं' से ही हुई है। वह पुरुष है तथा 'स:' प्रकृति है अत: वह स्त्री है। अजपाजप 'हंस:' के रूप में या सोऽहं के रूप में हो सकता है। *प्रपञ्चसार* (4.14-20) के अनुसार इससे ही ॐ या प्रणव बना है।

सकारश्च हकारश्च लोपयित्वा प्रयाजयेत्।
सन्धिं वै पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्।। (4.21)

इस 'सोहं' परमात्म मन्त्र से सकार एवं हकार का लोप हो जाने पर तथा पूर्व रूप होने पर 'सोहं' ही 'ॐ' रूप प्रणव बन जाता है। आचार्य शंकर समस्त प्रपञ्च की सृष्टि 'हं' से मानते हैं, यही मूल अक्षर है। इसके ज्ञान से परमलोक की प्राप्ति होती है। मूल वर्ण हं के विकृत होने से 51 प्रकार की वर्णविकृति होती है। अ से लेकर क्ष तक के सभी वर्ण मूलाक्षर 'ह' के विकार है। यही जगत् का मूल कारण है। इसकी परम शक्ति 'ह्रीं' माया को जानकर साधक समस्त कर्मबन्धों को ध्वस्त करके विष्णु के परम पद को प्राप्त करता है। त्रिलोक के प्राणियों के प्राणस्वरूप इस शक्ति को हम जप करे तथा इसकी अर्चना करे—

इति मूलाक्षरविकृतं कथितमिदं वर्णविकृति बाहुल्यम्।
स चराचरस्य जगतो मूलतान्मूलताऽस्य बीजम्।।
यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं, तद्विष्णो परमपदं प्रयाति लोक:।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां, हल्लेखां जपत च नित्यमर्चयीत।। *प्रपञ्चसार*, 4.75-76

इस प्रकार ब्रह्म की साधना हेतु शब्द ब्रह्म की उपासना आवश्यक सिद्ध हो जाती है जिसका आरम्भ अजपाजप के रूप में स्पन्दात्मक ध्वनि तथा वर्णमातृका के रूप में रूपात्मक आकृति तथा देव स्वरूप के ध्यान या जप का आलम्बन बनती है। अजपाजप के प्रारम्भ होने के बाद ही अन्तर्याग सम्पन्न हो सकता है। तब इन षट्चक्रों के माध्यम से गुरुप्रदत्त मन्त्रों के द्वारा महात्रिपुर सुन्दरी के यन्त्रात्मक एवं स्वरूपात्मक रूप में ध्यान कर सर्वानन्द प्राप्त किया जाता है।

तन्त्रागम की विविध परम्पराओं में इन चक्रों में मन्त्र यन्त्र (आकृति) तथा स्वरूप के द्वारा साधना होती है जो साधक का सर्वाभीष्ट सिद्ध करके परमसत्ता के साथ नित्य युक्ति भी प्रदान कर देती है।

55, गोविन्द नगर,
वैशाली नगर, जयपुर-302021
चलवाणी—9413970601

श्रीविद्या-साधना के सिद्धान्त

डॉ. आदित्य आङ्गिरस

ॐ तिस्रः पुरास्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः।
अधिष्ठायैनामजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥
एका सा आसीत् प्रथमा सा नवासीदासोनविंशदासोनत्रिंशत्।
चत्वारिंशदथ तिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो मा विशन्तु ॥— *त्रिपुरोपनिषद्*, 1.3

यदि हम समस्त भारतीय धर्म साधना एवं सिद्धान्त पद्धतियों के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो श्रीविद्या उपासना पद्धति का आरंभ हमें वैदिक साहित्य में ऋषियों द्वारा उपासित श्रीविद्या-साधना का शुद्ध एवं सात्त्विक रूप हमें उषा सूक्त, श्री सूक्त, पृथिवी सूक्त आदि के रूप में मिलता है जो कि ईश्वर की आधारशक्ति के रूप में ईश्वर में ही स्थित है एवं ईश्वर एवं उस की रचनाधर्मिता रूपी उसकी शक्ति में परस्पर कोई भेद नहीं हैं। वह शक्ति स्वयं ही ब्रह्मस्वरूपिणी है "**साब्रवीत्-अहं ब्रह्म स्वरूपिणी।मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्।शून्यं चाशून्यं च॥**" अतः प्रत्येक मनुष्य के लिये वह शक्ति सर्वतोभावेन पूज्या है क्योंकि परम शिव भी उस शक्ति के न रहने पर शव मात्र ही हैं।

शिवःशक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्च्यादिभिरपि।
प्रणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥ — *सौन्दर्यलहरी*, 1

अतः उनके आराधन से किसको पुण्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः *केनोपनिषत्*, *सरस्वती रहस्योपनिषत्*, *बह्वृचोपनिषत्*, आदि औपनिषदीय साहित्य में जिस ब्रह्म का वर्णन आता है वह स्वयं परम शिव की शक्ति ही हैं जो परम शिव में ही अवस्थित हैं "**एषा आत्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी।**" अतः श्रीविद्या जहां एक ओर ब्रह्म और उनकी शक्ति में अभेद मानता है वहीं यह बात महत्त्वपूर्ण रूप से स्वतः ही उभर कर आती है कि इस आर्ष चिन्तन परम्परा का व्यापक प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में कबीर, रविदास आदि के काव्य में स्पष्ट देखने को मिलता है। संभवतः मध्यकालीन सन्त कवि अपनी वाणी को हरि जननी मैं बालक तेरा कह कर अपनी अभिव्यक्ति को वाणी प्रदान करते हुए अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करने के पीछे यही भावना काम कर रही है एवं वहीं दूसरी मध्य युगीन साहित्य में राधा माधव भाव में राधा का स्वरूप बताया गया वह परम शिव की चिति शक्ति के समकक्ष ही है एवं वही मातृका ललिता अथवा त्रिपुरसुन्दरी अथवा श्रीमाता है। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य एवं अधिकार है कि उस परम शक्ति की कृपा का अनुभव करे जो संसार में यत्र तत्र जीवन सौन्दर्य के रूप में

प्रतिभासित होती है क्योंकि वही चिति शक्ति जीवन पाशबद्ध जीव को भव सागर से मुक्त करने में समर्थ है। वस्तुत: श्रीविद्या गायत्री का अत्यन्त गुप्त रूप है एवं यह चार वेदों एवं विभिन्न उपनिषदों में अत्यन्त गुप्त रूप से ही विद्यमान है एवं यही गायत्री वेद एवं चतुर्दश विद्याओं का सार है। इन विद्याओं से शक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें विशेष रूप से कहा जा सकता है कि गायत्री के जहां तीन पाद स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष है वहीं गायत्री का चतुर्थ पाद अस्पष्ट है।

यहां यह स्पष्ट करना एक आवश्यकता बन जाती है कि परम शिव एवं उनकी शक्ति को अपना उपास्य बना कर वैदिक वाङ्मय में जो प्रथा चली वास्तव में तन्त्र साहित्य में त्रिपुर सुन्दरी, श्री विद्या ललितोपासना अथवा भुवनेश्वरी साधना आदि सभी महाविद्याएं वैदिक वाङ्मय के अनुभव पर आधारित रही हैं क्योंकि *ऋग्वेद* आदि में वर्णित श्री विद्या का अर्थ एवं सम्बन्ध जीवन में अनुभूत सौन्दर्य दर्शन है जो परमेश्वर की साक्षात् शक्ति हो उनके साथ ही संपृक्त हैं। यद्यपि श्रीविद्या का साहित्य विशाल है एवं इस विद्या के कतिपय प्रमुख स्तोत्र ग्रन्थ कुछ इस प्रकार हैं—

1. तन्त्रराज, 2. तन्त्रराजोत्तर, 3. परानन्द अथवा परमानन्दतन्त्र, 4. सौभाग्यकल्पद्रुम, 5. सौभाग्य कल्पलतिका, 6. वामकेश्वर तन्त्र, 7. ज्ञानार्णव, 8. श्रीक्रमसंहिता तथा वृहदश्रीक्रमसंहिता, 9 दक्षिणामूर्त्ति संहिता, 10. स्वच्छंद तन्त्र अथवा स्वच्छंद संग्रह, 11. कालोत्तर वासना, 12. त्रिपुरार्णव, 13. श्रीपराक्रम, 14. ललितार्चन, 15. सौभाग्य तंत्रोत्तर, 16. मातृकार्णव, 17. सौभाग्य रत्नाकर:, 18. सौभाग्य सुभगोदय, 19. शक्तिसंगम तन्त्र, 20. त्रिपुरा रहस्य, 21. श्रीक्रमोत्तम, 22. अज्ञात अवतार, 23. सुभगार्चापारिजात, सुभगार्चारित्न: सौभाग्य भास्कर, 24. चंद्रपीठ, 25. संकेतपादुका, 26. सुंदरीमहोदय, 27. हृदयामृत, 28. लक्ष्मीतन्त्र:, 29. ललितोपाख्यान, 30. त्रिपुरासार समुच्चय, 31. श्री तत्वचिंतामणि, 32. विरूपाक्ष पंचाशिका, 33. कामकला विलास, 34. श्री विद्यार्णव, 35. शाक्त क्रम, 36. ललिता स्वच्छंद, 37. ललिताविलास, 38. प्रपंचसार, 39. सौभाग्यचंद्रोदय, 40. वरिवस्यारहस्यम् प्रकाश, 41. त्रिपुरासार, 42. सौभाग्य सुभगोदय:, 43. संकेत पद्धति, 44. परापूजाक्रम, 45. चिदंबर नट।

अत: श्री विद्या देवी अथवा ललिता अथवा त्रिपुरसुन्दरी से सम्बन्धित तन्त्र विद्या के जितने भी ग्रन्थ हैं जिनमें श्रीविद्या से संबंधित विभिन्न संकल्पनाओं का वर्णन किया गया है, उन सभी का आधार केवल वही वैदिक उपासना पद्धति ही है जो परम शिव एवं उस की चिति शक्ति को एक रूप मानती हुई उनकी उपासना करती है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि श्रीविद्या सम्प्रदाय उत्तम आत्मानुभूति के साथ-साथ भौतिक समृद्धि को भी जीवन के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है एवं यह श्रेष्ठतम अनुभव केवल ईश्वर अथवा परम शिव की चिति शक्ति की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। अत: श्रीविद्या परम शिव की ही आत्मशक्ति है जो स्वयं में शक्ति चक्र सम्राज्ञी एवं ब्रह्मविद्या स्वरूपा है एवं मनुष्य जीवन में श्रेष्ठतमभोग एवं मोक्ष प्रदान करने वाली है।क्योंकि इस विद्या के विषय में यह प्रसिद्धि भी है कि—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्ष: यत्रास्ति मोक्ष:, न च तत्र भोग:।
श्रीसुंदरीसेवनतत्परानां, भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।,

अत: यह कहा जा सकता है कि अद्वैत भावना से प्रेरित हो श्रद्धावश उस ईश्वर अथवा परमशिव और यह परम कल्याणकारी चिति शक्ति की उपासना करना मानव के लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि श्रीविद्या-साधक के जीवन में भी सुख-दु:ख का चक्र तो चलता है परन्तु श्रीविद्या-साधक परम शिव की चितिशक्ति से प्रेरित हुआ ऐसे कर्म ही नहीं करता उसे दु:ख उठाना पड़े एवं ऐसा करता हुआ वह श्रेष्ठतम जीवन को जीने का प्रयास करता है। अत: अपने पूर्व जन्म के संस्कारों, कर्मो वश यदि उसके जीवन में दु:ख आते भी है तो वह परम शिव की चिति शक्ति की कृपा से उन सभी विपरीत परिस्थितियों एवं बाधाओं को पार करता हुआ आसानी से मुक्त हो जाता है। अत: वह अपने दु:खों को नष्ट करने में स्वयं सक्षम होता है।

श्रीविद्या के मुख्य 12 संप्रदाय हैं। इनमें से बहुत से संप्रदाय लुप्त हो गए है, केवल मन्मथ और कुछ अंश में लोपामुद्रा संप्रदाय अभी भी प्रचलित हैं एवं इनमे प्रचलित साधना दो अथवा तीन मतों अर्थात् कादि विद्या, हादि विद्या एवं कहादि में बंटी हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मतों का मूलभूत कारण दो विभाग हैं। वर्णसम और मन्त्रसम के नाम पर ये नाम ये विद्याएं आज भी तन्त्र जगत् में प्रचलित हैं। दोनों ही संप्रदाय क, ह, ये महामन्त्र ऊर्ध्वाम्नाय के हैं। ककार से ब्रह्मरूपता है। यह कादि मत है। हकार से शिवरूपता, हादि मत है। कादि मत, काली मत और हादी मत सुंदरी मत हैं। दोनों मिलकर कहादी मत होता है। सुंदरी में प्रपंच है। जो सुंदरी से भिन्न है उसमें प्रपंच नहीं है। सौंदर्य सर्वदर्शन है। ब्रह्मसंदर्शन का अर्थ है असौन्दर्य का दर्शन। 58 पटल में है कि भगवती सुंदरी कहती हैं- अहं प्रपंचभूताऽस्मि, सा तु निर्णुणारूपिणी (*शक्ति संगमतन्त्र*, अध्याय 58)। कोई कोई कहते हैं कि कादि, हादि और कहादि आदि भेदों से तन्त्रराज के कई भेद हैं। *योगिनीहृदय* सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह वामकेश्वर तन्त्र का उत्तर चतु:शती है। भास्कर राय ने *भावनोपनिषद्* के भाष्य में कहा है कि यह कादि मतानुयायी ग्रन्थ है। तन्त्रराज की टीका मनोरमा में भी यही बात मिलती है परन्तु *वरिवस्या रहस्य* में है कि इसकी हादी मतानुकूल व्याख्या भी वर्तमान है। *योगिनी हृदयम्* ही नित्याहृदय के नाम से प्रसिद्ध है।

वस्तुत: जैसे कि प्रचलित अवधारणा है कि लोपामुद्रा ऋषि अगस्त की धर्मपत्नी थीं एवं वे विदर्भराज की कन्या थीं। लोपामुद्रा के पिता भगमालिनी के उपासक थे एवं त्रिपुरा की मुख्य शक्ति भगमालिनी माना जाता है। लोपामुद्रा बाल्यकाल से पिता की सेवा करती थी। पिता से सान्निध्य होने के कारण एवं निरन्तर भगमालिनी श्रवण एवं मनन करने से ही वे पराशक्ति के प्रति भक्तिसंपन्न हुई थीं। उन्होंने पिता की उपासना देखकर भगमालिनी की उपासना प्रारंभ कर दी। अत: देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें जगन्माता की पदसेवा की आज्ञा दी थी। अत: त्रिपुरा विद्या का उद्धार करने के कारण लोपामुद्रा ने ऋषित्व पद की प्राप्ति हुई। अगस्त्य वैदिक ऋषि थे एवं ऐसा माना जाता है कि अपनी भार्या से उन्होंने बाद में दीक्षा ली। अत: अगस्त्य केवल तन्त्र में ही सिद्ध नहीं थें, वे प्रसिद्ध वैदिक मंत्रों के द्रष्टा थे। ऐसी किवदंती है कि अगस्त्य तीर्थयात्रा के लिये घूमते समय जीवों के दु:ख देखकर अत्यन्त द्रवित हुए थे। उन्होंने कांचीपुर में तपस्या द्वारा महाविष्णु को तुष्ट किया था। उस समय महाविष्णु ने प्रसन्न होकर उनके सामने त्रिपुरा की स्थूलमूर्ति ललिता का माहात्म्य वर्णित किया। इसका विस्तृत विवरण उन्होंने श्रीहरि के स्वांश हयग्रीव मुनि से श्रवण किया। इसके अनन्तर हयग्रीव मुनि ने अगस्त्य को भण्डासुर का वृत्तान्त बतलाया। इस भण्डासुर ने तपस्या के प्रभाव से शिव से वर पाकर 105 ब्रह्मांडों का आधिपत्य लाभ किया था। अत: यह माना जाता है कि

भगमालिनी नित्या के रूप में प्रतिष्ठित है। प्राचीन भैरवी चक्र (ऊर्ध्वनाम्नाय शैवमार्ग) की वह योनि शक्ति है। इसे ही आद्याशक्ति का एक रूप माना गया है। कहीं कहीं इन्हीं को ही आद्या कहा गया है। इस संप्रदाय का मन्त्र कुछ इस प्रकार है –"ऐं भगभुगे ऐं भगिनि ऐं भगोदरी ऐं भगक्लिन्ने ऐं भगावहे ऐं भगगुह्ये ऐं भगयोने ऐं भगनिपातिनि ऐं भग सर्व ऐं भगवशंकरी ऐं भगरूपे ऐं भगनित्ये ऐं भगक्लिन्ने ऐं भगस्वरूपे सर्वभगानि मे ह्यानय ऐं भगक्लिन्ने द्रवे भगं क्लेदय भगं द्रावय भगामोघे भगविच्चे भगं क्षोभय सर्वसत्त्वान् भगेश्वरी ऐं भग ब्लूं ऐं भग जं ऐं भग मों ऐं भग ब्लूं ऐं भग मो भग क्लिन्ने सर्वानि भगानि मे ऐं भग व्लूं ऐं भग हें भग क्लिन्ने सर्वानि भगानि मे वशमानय भग ऐं भग ब्लूं ऐं भग हें ऐं भग ब्लूं ऐं भग हें ऐं द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः भग हर ब्लें भगमालिन्यै॥" यह 224 अक्षरी मन्त्र है परन्तु इसका तन्त्र बीज मन्त्र–ॐ ह्रीं क्लीं क्लीं भगेश्वरी क्लीं क्लीं ह्रीं फट् स्वाहा॥" है एवं अक्सर स्त्री पुरूष इसे वशीकरण शक्ति पाने के लिये सिद्ध करने का प्रयास करते हैं क्योंकि इन को तन्त्र साहित्य में आद्या शक्ति माना गया है। ऐसा मान जाता है कि इस मन्त्र के द्वारा साधक अपनी काम शक्ति, तेज, दृष्टिशक्ति में विवृद्धि करने में सक्षम है एवं इसी के साथ इसी के माध्यम से आयुवृद्धि भी होती है।

अत: लोपामुद्रा द्वारा प्रचलित कामराज विद्या और पंचदशवर्णात्मक *तन्त्र राज*, और *त्रिपुरोपनिषद्* के समान ही पंचदशवर्णात्मक हैं। अत: कामेश्वर अंकस्थित कामेश्वरी की पूजा के अवसर पर इस विद्या का उपयोग होता है। गौड़ संप्रदाय के अनुसार श्रेष्ठ मत कादि है, परन्तु कश्मीर और केरल में प्रचलित शाक्त मतों के अनुसार श्रेष्ठ मत त्रिपुरा और तारा के हैं। कादि देवता काली है। श्री शंकरमठ में भी बराबर श्रीविद्या की उपासना और पूजा होती चली आ रही है। यह माना जाता है कि कादि विद्या अत्यन्त गोपनीय है एवं यह केवल गुरुमुख से ही ग्रहण योग्य है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि सम्मोहन तन्त्र के अनुसार तारा, तारा का साधक, कादि तथा हादी दोनों मत से संश्लिष्ट है। हंस तारा, महा विद्या, योगेश्वरी कादियों की दृष्टि से काली, हादियों की दृष्टि से शिवसुदरी और कादि उपासकों की दृष्टि से हंस है। *श्री विद्यार्णव* के अनुसार कादि मत मधुमती है। यह त्रिपुरा उपासना का प्रथम भेद है। दूसरा मत मालिनी मत (काली मत) है। कादि मत का मानना है कि जगत् चैतन्य रूपिणी मधुमती महादेवी के साथ अभेद प्राप्ति ही साधक के जीवन का परम लक्ष्य है। वहीं दूसरी ओर विश्वविग्रह मालिनी महादेवी के साथ तादात्म्य होना ही काली मत का स्वरूप है। इन दोनों मतों का विस्तृत विवेचन *श्रीविद्यार्णव* में है। *श्री विद्यार्णव* के अनुसार हमें कादि या मधुमती मत के *तन्त्रराज, मातृकार्णव, योगिनीहृदय* एवं *नित्याषोडशिकार्णव* मुख्य चार मुख्य ग्रन्थ हमें उपलब्ध होते हैं एवं ऐसा माना जाता है कि वामकेश्वर वस्तुत: पृथक् रचना नहीं हैं अपितु वह एक ग्रन्थ के ही अंशगत भेद हैं एवं बहुरूपाष्टक एक पुस्तक नहीं है अपितु यह आठ पुस्तकों की एक संग्रह मात्र है। *त्रिपुरा उपनिषद्* और *भावनोपनिषद्* कादि मत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वहीं दूसरी ओर हादि विद्या उपासकों की उपास्य देवी त्रिपुरसुंदरी हैं और कहादि की देवता तारा या नील सरस्वती हैं। किसी किसी के मतानुसार *कौल उपनिषद्* भी इसी प्रकार का है, *त्रिपुरा उपनिषद्* के व्याख्याकार भास्कर के अनुसार यह उपविद्या सांख्यायन आरणयक के अंतर्गत है। हादि विद्या का प्रतिपादन *त्रिपुरातापिनी* उपनिषद में विद्यमान है। प्रसिद्धि है कि दुर्वासा मुनि त्रयोदशाक्षरवाली हादि विद्या के उपासक थे एवं दुर्वासा रचित *ललितास्तव* रत्न नामक ग्रन्थ बंबई से प्रकाशित हुआ है। यद्यपि दुर्वासा का संप्रदाय भी प्राय: लुप्त ही है परन्तु

दुर्वासा की इन्हीं संदर्भों में *त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र* नामक स्तुतिपरक रचना हमारे सामने आती है जिसके ऊपर नित्यानंदनाथ की टीका है। वहीं दूसरी ओर गौड़पाद कृत *सौभाग्योदय स्तुति* आदि भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जिनपर शंकराचार्य की टीकाएँ मिलती हैं। सौभाग्योदय स्तुति की रचना के अनंतर शंकराचार्य ने *सौंदर्यलहरी* का निर्माण किया जो *आनंदलहरी* नाम से भी प्रसिद्ध है। ऐसा माना जाता है कि *सौभाग्योदय* के ऊपर लक्ष्मीधर ने भी एक टीका थी। इनके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड पुराण का *ललिता सहस्रनाम* भी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस पर 1729 ई0 में भास्कर की टीका *सौभाग्य भास्कर* एवं काशीवासी पं. काशीनाथ भट्ट की संदीपनी टीका हमें उपलब्ध होती है। इन्हीं संदर्भों में हमें भास्कर राय ने *सेतुबंध* में भी आलोचना प्रस्तुत की है। *तन्त्रराज* में जिस नित्याहृदय की बात कही गयी है वह वस्तुत: योगिनीहृदय का ही नामांतर है। अत: "नित्याहृदय इत्येतत् तंत्रोत्तरार्धस्य योगिनी हृदयस्य संज्ञा" का अर्थ इन्हीं संदर्भों मे जानना यहां एक आवश्यकता बन जाती है। *सौभाग्यहृदय* स्तोत्र नाम से एक प्रसिद्ध स्तोत्र है जिसके रचयिता महार्थमंजरीकार गोरक्ष के परमगुरु हैं। योगिनी हृदय या उत्तर चतु:शती सर्वत्र प्रसिद्ध है। पूर्व चतु:शती रामेश्वर कृत परशुराम कल्पसूत्र की वृति में है। ब्रह्मांड पुराण के उत्तरखंड में श्री विद्या के विषय में एक प्रकरण है। यह अनंत, दुर्लभ, उत्तर खंड में त्रिशती अथवा ललितात्रिशती नाम से प्रसिद्ध स्तव है जिसपर शंकराचार्य की एक टीका भी है। इसका प्रकाशन हो चुका है। नवशक्ति हृदयशास्त्र के विषय में योगिनी की दीपिका टीका में उल्लेख है। इस प्रस्थान में सूत्रग्रन्थ दो प्रसिद्ध हैं: एक अगस्त्य कृत, *शक्ति सूत्र* और दूसरा *प्रत्यभिज्ञाहृदय* नामक *शक्तिसूत्र। परशुराम कृतकल्पसूत्र* भी सूत्रसाहित्य के अंतर्गत है। यह त्रिपुरा उपनिषद् का उपबृंहण है। ऐसी प्रसिद्धि है कि इसपर रामेश्वर की एक वृत्ति है जिसका नाम *सौभाग्योदय* है एवं जिसकी रचना 1753 शकाब्द में हुई थी। इसका भी प्रकाशन हो चुका है। इस कल्पसूत्र के ऊपर भास्कर राय ने *रत्नालोक* नाम की टीका बनाई थी। अभी यह प्रकाशित नहीं हुई है। गौड़पाद के नाम से *श्रीविद्यारत्न सूत्र* प्रसिद्ध है। इसपर प्रसिद्ध शंकरारण्य का व्याख्यान है। यह टीका सहित प्रकाशित हुआ है। सौभाग्य भास्कर में त्रैपुर सूक्त नाम से एक सूक्त का पता चलता है। इसके अतिरिक्त एक और भी सूत्रग्रन्थ बिंदु सूत्र है। भास्कर ने *भावनोपनिषद भाष्य* में इसका उल्लेख किया है। किसी प्राचीन ग्रंथागार में कौल सूत्र, का एक हस्तलिखित ग्रन्थ दिखाई पड़ा था जो अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है।

वस्तुत: यह एक स्वतन्त्र शास्त्र है, जो स्वत: ही पूजा और आचार-पद्धति का परिचय देते हुए इच्छित तत्त्वों को साधक के अधीन बनाने का मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम है एवं यह एक अद्भुत साधना-शास्त्र है। इसमें साधना के अनेक प्रकार दिखलाए गए हैं, जिनमें देवताओं के स्वरूप, गुण, कर्म आदि के चिन्तन की प्रक्रिया बतलाते हुए 'पटल, कवच, सहस्रनाम तथा स्तोत्र'- इन पाँच अंगों वाली पूजा का विधान किया गया है। इन अंगों का विस्तार से परिचय इस प्रकार है:-

(क) पटल – इसमें मुख्य रूप से जिस देवता का पटल होता है, उसका महत्त्व, इच्छित कार्य की शीघ्र सिद्धि के लिए जप, होम का सूचन तथा उसमें उपयोगी सामग्री आदि का निर्देशन होता है। साथ ही यदि मन्त्र शापित है, तो उसका शापोद्धार भी दिखलाया जाता है।

(ख) पद्धति – इसमें साधना के लिए शास्त्रीय विधि का क्रमशः निर्देश होता है, जिसमें प्रातः स्नान से लेकर पूजा और जप समाप्ति तक के मन्त्र तथा उनके विनियोग आदि का सांगोपांग वर्णन होता है। इस प्रकार नित्य पूजा

और नैमित्तिक पूजा दोनों प्रकारों का प्रयोग-विधान तथा काम्य-प्रयोगों का संक्षिप्त सूचन इसमें सरलता से प्राप्त हो जाता है।

(ग) कवच – प्रत्येक देवता की उपासना में उनके नामों के द्वारा उनका अपने शरीर में निवास तथा रक्षा की प्रार्थना करते गुए जो न्यास किए जाते हैं, वे ही कवच रूप में वर्णित होते हैं। जब ये 'कवच' न्यास और पाठ द्वारा सिद्ध हो जाते हैं, तो साधक किसी भी रोगी पर इनके द्वारा झाड़ने-फूंकने की क्रिया करता है और उससे रोग शांत हो जाते हैं। कवच का पाठ जप के पश्चात् होता है। भूर्जपत्र पर कवच का लेखन, पानी का अभिमन्त्रण, तिलकधारण, वलय, ताबीज तथा अन्य धारण-वस्तुओं को अभिमन्त्रित करने का कार्य भी इन्हीं से होता है।

(घ) सहस्रनाम – उपास्य देव के हजार नामों का संकलन इस स्तोत्र में रहता है। ये सहस्रनाम ही विविध प्रकार की पूजाओं में स्वतन्त्र पाठ के रूप में तथा हवन-कर्म में प्रयुक्त होते है। ये नाम देवताओं के अति रहस्यपूर्ण गुण-कर्मों का आख्यान करने वाले, मन्त्रमय तथा सिद्ध-मन्त्ररूप होते हैं। इनका स्वतन्त्र अनुष्ठान भी होता है।

(ङ) स्तोत्र – आराध्य देव की स्तुति का संग्रह ही स्तोत्र कहलाता है। प्रधान रूप से स्तोत्रों में गुण-गान एवँ प्रार्थनाएँ रहती है; किन्तु कुछ सिद्ध स्तोत्रों में मन्त्र-प्रयोग, स्वर्ण आदि बनाने की विधि, यन्त्र बनाने का विधान, औषधि-प्रयोग आदि भी गुप्त संकेतों द्वारा बताए जाते हैं। तत्त्व, पञ्जर, उपनिषद् आदि भी इसी के भेद-प्रभेद हैं। इनकी संख्या असंख्य है। इन पाँच अंगों से पूर्ण शास्त्र 'तन्त्र शास्त्र' कहलाता है।

यहां एक बात निश्चित रूप से कहना चाहूंगा कि यह संपूर्ण साधना उस दिव्य शक्ति के प्रति आस्था, श्रद्धा भाव एवं प्रेम के माध्यम रख कर ही उस परम शक्ति की कृपा संभव हैं जो संपूर्ण है। अत: यह साधना साधक के जीवन में सभी प्रकार के भोग एवं ऐश्वर्य प्रदान करने वाली है। श्रीरुद्र-यामले महा-तन्त्र-राजे श्रीपार्वतीश्वर-सम्वादे श्रीविश्वावसु-गन्धर्व-राज-कवच स्तोत्रम् में इसका प्रभाव कतिपय इस प्रकार बताया गया है।

इत्येतत् कवचं दिव्यं, साक्षाद् वज्रोपमं परम्। भक्त्या पठति यो नित्यं, तस्य कश्चिद्भयं न हि।।
एक-विंशति-श्लोकांश्च, काम-राज-पुटं जपेत्। वश्यं तस्य जगत् सर्वं, सर्व-स्त्री-भुवन-त्रयम्।।
सालंकारां सु-रूपां च, कन्यां दिव्यां लभेन्नरः। विवाहं च भवेत् तस्य, दुःख-दारिद्र्यं तं नहि।।
पुत्र-पौत्रादि-युक्तश्च, स गण्यः श्रीमतां भवेत्। भार्या-प्रीतिर्विवर्धन्ति, वर्धनं सर्व-सम्पदाम्।।
गजाश्वादि-धनं-धान्यं, शिबिकां च बलं तथा। महाऽऽनन्दमवाप्नोति, कवचस्य पाठाद् ध्रुवम्।।
देशं पुरं च दुर्गं च, भूषादि-छत्र-चामरम्। यशः कीर्तिश्च कान्तिश्च, लभेद् गन्धर्व-सेवनात्।।
राज-मान्यादि-सम्मानं, बुद्धि-विद्या-विवर्धनम्। हेम-रत्नादि-वस्त्रं च, कोश-वृद्धिस्तु जायताम्।।
यस्य गन्धर्व-सेवा वै, दैत्य-दानव-राक्षसैः। विद्याधरैः किंपुरुषैः, चण्डिकाद्या भयं नहि।।
महा-मारी च कृत्यादि, वेतालैश्चैव भैरवैः। डाकिनी-शाकिनी-भूतैर्न भयं कवचं पठेत्।।
प्रयोगादि-महा-मन्त्र-सम्पदो क्रूर-योगिनाम्। राज-द्वारे श्मशाने च, साधकस्य भयं न हि।।
पथि दुर्गे जलेऽरण्ये, विवादे नृप-दर्शने। दिवा-रात्रौ गिरौ मेघे, भयं नास्ति जगत्-त्रये।।

भोजने शयने भोगे, सभायां तस्करेषु च। दुःस्वप्ने च भयं नास्ति, विश्वावसु-प्रसादतः।।
गजोष्ट्रादि-नखि-शृङ्गि, व्याघ्रादि-वन-देवताः। खेचरा भूचरादीनां, न भयं कवचं पठेत्।।
रणे रोगाः न तं यान्ति, अस्त्र-शस्त्र-समाकुले। साधकस्य भयं नास्ति, सदेदं कवचं पठेत्।।
रक्त-द्रव्याणि सर्वाणि, लिखितं यस्तु धारयेत्। सभा-राज-पतिर्वश्यं, वश्याः सर्व-कुलांगनाः।।
रम्भादि-कामिनीः सर्वाः, वश्याः तस्य न संशयः। मदन-पुटितं जप्त्वा जप्त्वा च भग-मालिनीं।।
भग-भाग्यादि-सिद्धिश्च, वृद्धिः तस्य सदा भवेत्। बाला-त्रिपुर-सुन्दर्याः, पुटितं च पठेन्नरः।।
सालंकारा सुरूपा च, कन्या भार्यास्तु जायतां। बाला प्रौढ़ा च या भार्या, सर्वा-स्त्री च पतिव्रता।।
गणिका नृप-भार्यादि, जपाद्-वश्यं च जायताम्। शत-द्वयोः वर्णकानां, मन्त्रं तु प्रजपेन्नरः।।
वश्यं तस्य जगत्-सर्वं, नर-नारी-स्व-भृत्य-वत्। ध्यानादौ च जपेद् भानुं, ध्यानान्ते द्वादशं जपेत्।।
गायत्री दश-वारं च, जपेद् वा कवच पठेत्। युग्म-स्तोत्रं पठेन्नित्यं, बाला-त्रिपुरा-सुन्दरीम्।।
कामजं वंश-गोपालं, सन्तानार्थे सदा जपेत्। गणेशास्यालये जप्त्वा, शिवाले भैरवालये।।
तड़ागे वा सरित्-तीरे, पर्वते वा महा-वने। जप्त्वा पुष्प-वटी-दिव्ये, कदली-कमलालये।।
गुरोरभिमुखं जप्त्वा, न जपेत् कण्टकानने। मांसोच्छिष्ट-मुखे जप्त्वा, मदिरा नाग-वल्लिका।।
जप्त्वा सिद्धिमवाप्नोति, भग-भाग्यादि-सम्पदां। देहान्ते स्वर्गमाप्नोति, भुक्त्वा स्वर्गांगना सदा।।
कल्पान्ते मोक्षमाप्नोति, केवलं पदवीं न्यसेत्। न देयं यस्य कस्यापि, कवचं दिव्यं पार्वति।।
गुरु-भक्ताय दातव्यं, काम-मार्ग-रताय च। देयं कौल-कुले देवि ! सर्व-सिद्धिस्तु जायताम्।।
भग-भाग्यादि-सिद्धिश्च, सन्तानसम्पदोत्सवः। विश्वावसु प्रसन्नो च, सिद्धि-वृद्धिर्दिनेदिने।।

अतः साधक के लिये यह आवश्यक है कि यदि वह जीवन में भोग, ऐश्वर्य एवं मोक्ष चाहता है तो उस दिव्य शक्ति के प्रति यथा शक्ति अपनी श्रेष्ठतम भावना से प्रार्थना करे क्यों कि *दुर्गासप्तशती* में उस परम शक्ति को भक्तों पर कृपा करने के लिये "सदा आर्द्रचिता" के नाम से कहा गया है।

वीवी बी आई एस (PU) साधु आश्रम,
उना रोड, होशियारपुर,
पंजाब।
चलवाणी—9417188202

शाक्ततन्त्र में चन्द्रविद्या और तिथियों के रहस्य

डॉ. हर्षदेव माधव

समग्र शाक्ततन्त्र में श्रीविद्या और श्रीयन्त्र का अत्यन्त महत्त्व है। श्रीविद्या में पञ्चदशी और षोडशी दोनों महत्त्व की विद्याएँ हैं। श्रीविद्या में दिवस से ज्यादा महत्त्व रात्रियों का और तिथियों का होता है। जैसा कि रुद्रयामल में कहा गया है कि—

रात्रौ पूजां सदा कुर्यात् रात्रौ सिद्धिर्न संशयः।
सफला रजनीपूजा दिव्यपूजा च निष्फला ॥
शक्तिमन्त्रं जपेद्रात्रौ विनापि पूजनं शुचिः।
विशेषतो निशीथे तु तत्रातिफलदो जपः ॥

(*शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, पञ्चमोल्लासः 33-38, पृ. 69)

जो रात्रि के समय में काली, तारा, भैरवी की उपासना करता है वह चक्रवर्ति राजाओं में श्रेष्ठ बनता हैं। जो रात्रि के समय में मातंगी, बाला, चामुंडा, छिन्नमस्ता, भद्रकाली, दुर्गा और जयदुर्गा का जप और पूजन करता है वह भौतिक सुखों का अनुभव कर के रुद्रप्राप्ति करता है। दिवस के समय जो पूजन करता है वह यथोक्त फल प्राप्त करता है, किन्तु जो रात्रि के समय पूजन करता है उसको लाखगुना पुण्यफल मिलता है। अर्धरात्रि के बाद दो मुहूर्त का काल महारात्री माना गया है और उसका पुण्य अक्षय होता है।

(*शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, 5-35 तः 39)

सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधरा की टीका में आचार्य लक्ष्मीधर ने 31वे श्लोक में चन्द्रविद्या की काफी चर्चा की है। उन्होंने चन्द्रकलाविद्याष्टक श्रीविद्या प्रतिपादकतन्त्र के नाम गिनाएँ है उसमें - (1) चन्द्रकला (2) ज्योत्स्नावती (3) कलानिधि (4) कुलार्णव (5) कुलेश्वरी (6) भुवनेश्वरी (7) बार्हस्पत्य और (8) दूर्वासमत—ये सभी तन्त्र ग्रन्थों में सर्व वर्गों का अधिकार है अर्थात् यहाँ कोई जातिभेद नहीं है। कौलमार्ग और समयमार्ग दोनों में चन्द्रज्ञानविद्या में षोडशनित्या मुख्य है। जैसा कि लक्ष्मीधर कहते हैं

अत एव चतुष्पष्टिविद्यान्तर्भूतायां चन्द्रज्ञानविद्यायां घोडशनित्या प्रधानत्वेन प्रतिपादिता इति, तत्प्रतिपादकं तन्त्रं कौलमार्गः, अयं तु समयमार्गः इति भेदः। *शुभागम पंचक* में षोडशनित्याओं का प्रतिपादन मूलविद्या में अन्तर्भाव कर के किया गया है। चक्रविद्या उसका अङ्ग है। कौलमार्ग और समयमार्ग में षोडशनित्याओं का

प्रभाव है और वें प्रधान है। *सनन्दनसंहिता* में षोडशनित्याएँ चन्द्रकला की चक्रविद्या की अंगभूत है। *सनत्कुमार संहिता* में भी षोडशनित्याएँ गौण है और श्रीचक्र मुख्य है। पंचदशी के मन्त्र के साथ तिथियों के नाम निम्नोक्त प्रकार है—

"दर्शा, दृष्टा, दर्शता, विश्वरूपा, सुदर्शना, प्यायमाना, आप्यायमाना, प्याया, सूनृता, इरा, अपूर्यमाणा, पूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा और पूर्णिमा।"

कादिविद्या, प्रत्येक अक्षर की नित्याओं, तत्त्व, खण्ड और श्रीयन्त्र के साथ उनका सम्बन्ध :

मन्त्र	तिथि	वैदिक नाम	नित्य	तत्त्व	खण्ड	श्रीयन्त्र के चक्र
क	1	दर्शा	कामेश्वरी	शिव	अग्नि	त्रिकोण
ए	2	दृष्टा	भगमालिनीशक्ति			अष्टार
ई	3	दर्शता	नित्यक्लिन्ना	माया		अन्तर्दशार
ल	4	विश्वरूपा	भेरूण्डा	शुद्धविद्या		
ह्रीं	5	सुदर्शना	वह्निवासिनी	जल	सौर (सूर्य)	बहिर्दशार
ह	6	प्यायमाना	महाव्रजेश्वरी	तेज		चतुर्दशार
स	7	अप्यायमाना	शिवदूती-रौद्री	वायु		
क	8	प्याया	त्वरिता	मन		
ह	9	सूनृता	कुलसुन्दरी	पृथ्वी		
ल	10	ईरा	नित्या	आकाश		
ह्रीं	11	आपूर्यमाणा	नीलपताका	विद्या		
स	12	पूर्यमाणा	विजया	महेश्वर	चन्द्र	शिव के चार चक्र, बिन्दु, वृत्त
क	13	पूरयन्ती	सर्वमंगला	परतत्त्व		
ल	14	पूर्णा	ज्वालामालिनी	आत्मतत्त्व		
ह्रीं	15	पौर्णमासी	चित्रा, चिद्रूपा	सदाशिव	चन्द्रकला	अष्टदल और षोडशदल नित्या कला
श्रीं	16	चिद्रूपा	महात्रिपुरसुन्दरी	सादाख्य		

(*मन्त्रभाषा अने मन्त्रकविता* - डॉ. हर्षदेवमाधवः, संस्कृत साहित्य अकादमी, गांधीनगर, पृ.57-58)

पंचदशी के प्रत्येक अक्षर प्रत्येक तिथि के साथ जुड़े हुए हैं और षोडशी की सोलहवीं कला चित् कला है। वह चिद्रूपा कला सर्वतिथियों में उपास्य है।

श्रीयन्त्र में तीन कूट है और श्रीविद्या में भी तीन कूट है। प्रथम चार वर्ण आग्नेय खंड है। दूसरा पांच वर्णों का खंड सौर खंड है। और इन दोनों के बीच 'ह्रीं' रुद्र ग्रन्थि है। तीसरा खंड तीन वर्णों का है जो सौम्य खंड है। दूसरे और तीसरे खंड के बीच में भुवनेश्वरी बीज विष्णुग्रंथि है और तीसरे खंड में हृल्लेखा के बाद का बीज ब्रह्मग्रंथी है।

लक्ष्मीधर चन्द्रकलाओं के बारे में 32वें श्लोक में विशद् विवेचन करते हैं। वह ज्योतिशास्त्र का उद्धरण देते है—

प्रतिपन्नाम विज्ञेया चन्द्रस्य प्रथमा कला।
द्वितीयाद्या द्वितीयाद्याः पक्षयोश्शुक्लकृष्णयोः ॥ इति ॥

(*सौन्दर्यलहरी*, लक्ष्मीधरा टीका, श्लोक-32, पृ.83)

चन्द्र की प्रथम कला प्रतिपदा है, वह कलात्मिका है और सूर्यमंडल से निकलती है, वह कला कृष्णपक्ष में सूर्यमंडल में प्रवेश करती है। इस तरह शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक एक कला सूर्यमंडल से निकलती है और कृष्णपक्ष में सूर्यमंडल में वापिस प्रवेश करती है। जब पौर्णमासी आती है तब पंचदश कला का व्यवधान होता है किन्तु अमावस के दिन सूर्य-चन्द्र का अत्यंत संयोग होता है। इसलिए चन्द्र की कोई कला नहीं होती किन्तु चिद्रूपी कला अर्थात् भगवती पराम्बा का उस रात्री में प्रभुत्व रहता है।

ये षोडशनित्याएँ चन्द्रकलात्मिका है और शरीर में विशुद्धि चक्र में षोडशनित्याओं का स्थान है। ये षोडशकलाएँ सहस्रार में भी विद्यमान है। लक्ष्मीधर तांत्रिक रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि सर्व शुक्लतिथियाँ पौर्णमासी है और सर्व कृष्णतिथियों का अमावस में अन्तर्भाव होता है। इसलिए अमावस को कृष्णपक्ष माना गया है। सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्रमंडल बैंदव स्थान है और वहाँ चिन्मयी आनन्दरूप महात्रिपुर सुन्दरी विद्यमान है। इसलिए शुक्लपक्ष में ही कुंडलिनी जागृत हो सकती है कृष्णपक्ष में नहीं।

सहस्रदलकमलान्तस्थितचन्द्रमण्डलं बैन्दवस्थानम्। तत्कला चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मेति गीयते। सैव त्रिपुरसुन्दरी। एवं शुक्लपक्ष एव कुण्डलिनीप्रबोधः कर्तुं शक्यते योगीश्वराणां, न तु कृष्णपक्ष इति रहस्यम्।

(*सौन्दर्यलहरी*, लक्ष्मीधरा टीका, श्लोक-32, पृ.85)

चन्द्र वामनाडी के रास्ते से संचरण करता शरीर की 72 हजार नाडीमार्ग को अमृत से सिंचन करता है। सूर्य दक्षिण नाडी मार्ग से संचरण करता है। अमृत का शोषण करता है। जब चन्द्र और सूर्य दोनों का आधार चक्र में समावेश होता है तब अमावस का उदय होता है। कुंडलिनी की अजागृत अवस्था कृष्णपक्ष कही

जाती है। अनाहत चक्र ज्योतिर्लोक है। विशुद्ध चक्र चान्द्रलोक है, आज्ञाचक्र सुधालोक है। सहस्रदलकमल ज्योत्स्नामय लोक है। लक्ष्मीधर आचार्य परम रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते है कि सहस्रार में स्थित चन्द्र नित्यकला युक्त है और वही चन्द्र बिंब श्रीचक्र है और उसकी कला सादाख्य कला है।

सहस्रकमलं तु ज्योत्स्नामय एव लोकः। तत्र स्थितश्चन्द्रो नित्यकलायुक्तः। चन्द्रबिम्ब श्रीचक्रम्। कला सादाख्या। (*सौन्दर्यलहरी*, लक्ष्मीधरा टीका, पृ.86)

ललितासहस्रनाम की सौभाग्यभास्कर टीका में श्रीभास्करराय वासनासुभगोदय का उद्धरण देते है—

दर्शाद्या पूर्णिमान्ताद्याः कलाः पञ्चदशैव तु।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥

(*ललितासहस्रनाम* सौभाग्यधास्करटीका, श्लोक-113, पृ. 239)

लक्ष्मीधर दृढता से कहते हैं कि श्रीविद्या का अनुष्ठान रात्रि को ही करना चाहिए, दिवस को नहीं। क्योंकि यह विद्या चन्द्रकलारूप है।

रात्रावेव चन्द्रकलारूपायाः श्रीविद्यायाः अनुष्ठानं, न च दिवसे इति उपदेशः।

(*सौन्दर्यलहरी*, पृ.91)

कृष्णपक्ष की रात्रियों के नाम

सुता सुन्वती प्रसुता सूयमानाऽभिषूयमाणा। पीती प्रपा संपा तृप्तिस्तर्पयन्ती।
कान्ता काम्या कामजाताऽऽयुष्मती कामदुधा ॥ (*सौन्दर्यलहरी*, पृ. 91)

इस तरह (1) सुता (2) सुन्वती (3) प्रसुता (4) सूयमाना (5) अभिषूयमाणा (6) पीती (7) प्रपा (8) संपा (9) तृप्ति (10) तर्पयन्ती (11) कान्ता (12) काम्या (13) कामजाता (14) आयुष्मती (15) कामदुधा—ये कृष्णपक्ष की तिथियों के नाम हैं।

ये कृष्णपक्ष की रात्रियाँ आधारचक्र में ही है क्योंकि वह अमावस के स्वरूप है। समय मार्गवाले वहाँ उपासना नहीं करते क्योंकि शुक्लपक्ष में चन्द्रकला का संचार होता है। वैसे तो कुंडलिनी शक्ति का प्रबोध रात को होता है किन्तु दिवस मधु के स्राव करता है।

शुक्लपक्ष दिवस के नाम

संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानदधिजानत्।
सङ्कल्पमानं प्रकल्पमानमुपकल्पमानमुपक्लृप्तं क्लृप्तम्।
श्रेयो वसीय आयत् संभूतं भूतम् ॥

इस तरह शुक्लपक्ष के दिवस के नाम निम्नोक्त है :(1) संज्ञानं (2) विज्ञानं (3) प्रज्ञानं (4) जानद् (5) अधिजानत् (6) संकल्पमान (7) प्रकल्पमान (8) उपकल्पमान (9) उपक्लृप्त (10) क्लृप्त (11) श्रेयस् (12) संभूतं (13) भूतम्।

कृष्णपक्ष–दिवसनाम

तैत्तिरीय ब्राह्मण 3-10-10 में कृष्णपक्ष के दिवस के नाम भी दिये हैं—

प्रस्तुतं विष्टुतं संस्तुतं कल्याणं विश्वरूपम्। शुक्रममृतं तेजस्वि तेजः समिद्धम्। अरुणं भानुमन्मरीचिमदभितपत्तपस्वत् ॥

इस तरह (1) प्रस्तुतं (2) विष्टुतं (3) संस्तुतं (4) कल्याणं (5) विश्वरूपं (6) शुक्रं (7) अमृतं (8) तेजस्वि (9) तेजः (10) समिद्धम् (11) अरुणं (12) भानुमत् (13) मरीचिमत् (14) अभितपत् (15) अपस्वत्।

निष्कर्ष है कि शुक्ल और कृष्ण पक्ष की तिथियों का शाक्ततत्र में अत्यंत महत्त्व है। कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के दिवसों और रात्रियों की सभी देवियों के रूप में महादेवी अभिव्यक्त है। जो इस प्रकार उनको जानता है कि वे उस पर मधु का क्षरण करती है तथा उससे शरीर को पुष्ट करती हैं तो उसमें भी बैन्दव से मधु का क्षरण होता है। उसके प्रति त्याग तथा शुभकार्य प्रभावी होते हैं, जो इससे अनभिज्ञ है उनमें मधु उत्पन्न नहीं होता है और उनका त्याग एवं शुभकार्य व्यर्थ ही जाते हैं। मधु का उत्पादन रात्रि की देवियाँ करती हैं और इससे शरीर की पुष्टि करती हैं। श्रुति (*तै.ब्रा.* 3.10.10) का कथन है—

शुक्ल और कृष्णपक्ष की रात्रियाँ मधुकृत् हैं और उनके दिवस मधुवर्षण करते हैं।

(*ललितासहस्रनाम*, पृ.246)

पंचदशी के पंद्रह अक्षरों में प्रथम कूट में पाँच अक्षर है। दूसरे में छह अक्षर हैं और तीसरे कूट में चार अक्षर हैं। उसका रहस्य यह है कि दसवाँ दिवस अर्थात् दशमी एकादशी में लय हो जाती है तो एकदशी को दशमी का अंश मानते हैं। शुद्ध द्वादशी ज्यों की त्यों रहती है। द्वादशी में एकादशी का अंश है। इसलिए पंचदशी के दूसरे कूट में छः अक्षर हैं और अन्तिम कूट में चार वर्ण।

सुभगोदय के भाष्य में भाष्यकार लोया का कथन है—'यद्यपि ग्यारहवीं कला अपूर्यमाणा अन्तिम कूट चन्द्रखण्ड की है, किन्तु फिर भी दूसरे कूट सूर्यखंड में सम्मिलित कर लिया गया है। दसवीं और ग्यारहवीं कला – इरा और अपूर्यमाणा एक है, क्योंकि ग्यारहवीं कला दसवीं का अंश है।'

वैदेह अर्थात् कामदेव ने पन्द्रह अक्षरों के मन्त्र पक्ष के दिवसों और रात्रियों की देवियों के आधार पर बनाये हैं। (*ललितासहस्रनाम,* पृ.245-247)

निष्कर्ष यह है कि श्रीयन्त्र ही चन्द्रबिम्ब है और श्रीविद्या ही चन्द्रविद्या है—तिथियाँ काल के साथ जुड़ी है। अत: काल की अधिष्ठात्री काली ही विश्व का नियमन करनेवाली आदि शक्ति है—क्रियाशक्ति है। अमृतेश्वरी श्रीमाता ही भोगदा और मोक्षदा है।

प्राणतोषिणी के पंचम परिच्छेद में तिथिध्यान मंत्र दिए हैं। जहाँ प्रत्येक तिथि का ध्यान और देवी के रूप में तिथियों का वर्णन है। जो कोई भी तिथि है वह स्वयं महामाया है। कृष्णपक्ष में वह कृष्णवर्ण ही होती है। और शुक्लपक्ष में चन्द्र के जैसी प्रभावशाली होती है। यहाँ प्रत्येक तिथि का दैवी स्वरूप है। जैसा कि प्रतिपदा का वर्णन इस प्रकार है—

द्विभुजां शुक्लरूपाञ्च खेलत्खञ्जनगामिनीम्।
द्विलोचनां शशिकलां सिन्दूरतिलकोज्वलाम्॥
तप्तहाटकनिर्माणनानालङ्कारभूषिताम्।
दाडिमीबीजसदृशदशनद्युतिशोधनाम् ॥
ध्यायेत् प्रतिपदं देवीं जपपूजाविशुद्धये ॥

(*प्राणतोषिणी*, पंचमपरिच्छेद, पृ. 382)

अर्थात् दो भुजाओंवाली, श्वेतवर्ण की खेलते खंजनपक्षी के समान चलती, दो नेत्रों वाली, सिन्दूर और तिलक से शोभायमान सुवर्ण से निर्मित विविध आभूषणों वाली अनार के बीज के समान, दंतपंक्ति की शोभा से युक्त प्रतिपदा की शशिकला का जप और पूजा के लिए ध्यान धरना चाहिए।

तिथियों और पक्ष के लिए ध्यानमन्त्र

(1) ॐ गौं प्रतिपद्भ्यः स्वाहा।
(2) ॐ ऐं द्वितीयायै स्वाहा।
(3) ॐ ऐं तृतीयायै स्वाहा।
(4) ॐ ऐं हुं चतुर्थ्यै स्वाहा।
(5) ॐ ह्रीं ऐं ह्रीं पञ्चम्यै स्वाहा।
(6) ओं ह्रीं षष्ठ्यै स्वाहा।
(7) ह्रीं ॐ सप्तम्यै स्वाहा ॐ ह्रीं ॥
(8) ॐ क्रीं हुं ऐं अष्टम्यै स्वाहा ऐं हुं क्रीं ॥
(9) ॐ हुं नवम्यै स्वाहा हुं ॐ ॥
(10) ऐं ॐ दशम्यै स्वाहा ॐ ऐं।
(11) ॐ क्रीं ॐ एकादश्यै स्वाहा ॐ क्रीं ॐ ॥
(12) ह्रीं ॐ ह्रीं द्वादश्यै स्वाहा ह्रीं ॐ ह्रीं ॥

(13) ॐ ऐं त्रयोदश्यै स्वाहा ऐं ॐ॥

(14) क्रीं ॐ ह्रीं चतुर्दश्यै स्वाहा हीं ॐ क्रीं ॥

(15) ह्रीं ॐ क्रीं ॐ पूर्णिमायै स्वाहा ॐ क्रीं ॐ ह्रीं ॥

कृष्णपक्ष में यहीं तिथियाँ नील अंजन के समान वर्णवाली किशोरी और नवयौवना होती है। कृष्णपक्ष की सर्वतिथिओं का ध्यान इस प्रकार होता है—

दलित (मसले हुए) अंजन के समान, पीले वस्त्रोंवाली, पीली गंध से शरीर पर लेपन की हुई, पीले आभूषणोंवाली, पीले कमल पर बैठी हुई किशोरी, नवयौवना दो नेत्रोंवाली, दो भुजावाली संकुचित स्तनोंवाली, ललाट में सिन्दूर के तिलकवाली, खंजन पक्षी की तरह चलनेवाली, त्रिभंगी से ललित आकृतिवाली, दाडिम बीज के समान दंतपंक्ति वाली, कृष्णपक्ष की सर्व तिथियों का ध्यान ऐसा होता है।

अमावस का ध्यानमन्त्र

(1) ॐ ह्रीं ह्रीं ॐ अमावास्यायै स्वाहा ॐ ह्रीं ह्रीं ॐ ॥

शुक्लपक्ष की देवी शंख और कुंद के समान कांतिवाली है, नवयौवना है। चारभुजावाली, तीन नेत्रोंवाली, मदमस्त हथिनी जैसी चालवाली, ललाट में सिन्दूर के तिलक से युक्त, अंजनयुक्त नेत्रोंवाली, पीले वस्त्र पर कृष्णवस्त्र के उत्तरीयवाली, विविध आभूषणों से सुशोभित, नील पद्म पर विराजमान चंचल आँखोंवाली, हाथ में नीलपद्म धारण करनेवाली, नित्य षोडशी, कदंब की कली जैसे स्तनोंवाली, हीरे के समान दंतकांति से उज्ज्वल विविध पुष्पमय हारवाली, विविध सुगंधवाली, शुक्लपक्षरुपिणी देवी का ध्यान धरना चाहिए। (*प्राणतोषिणी*, पृ.388-389)

शुक्लपक्ष का ध्यानमन्त्र

ऐं ऐं क्रीं क्रीं शुक्लपक्षाय स्वाहा ऐं ऐं क्रीं क्रौं।

कृष्णपक्ष का ध्यानमन्त्र

ॐ ॐ कृष्णपक्षाय स्वाहा ॐ ॐ ॥

प्राणतोषिणी में तिथिकवच भी दिया है। यहाँ तिथियों के साथ विविध बीजमन्त्र भी है। तिथिकवच *वर्णविलास* तंत्र से उद्धृत किया है। *कामधेनुतंत्र* में मास के ध्यानमंत्र भी दिए है, ऐसा प्राणतोषिणी का निरूपण है। तिथियों के साथ शरीर के स्थानों का संबंध है किन्तु यहाँ विस्तार भय से उसकी चर्चा नहीं है।

समग्र चर्चा के बाद यह निष्कर्ष लिखें तो अवश्य ज्ञात होगा कि शाक्ततंत्र में रात्रिपूजा का महत्त्व है। प्रत्येक तिथि भी और तिथि-नित्या भी ध्यातव्य है। पूर्णिमा का विशेष महत्त्व है और शुक्लपक्ष का भी पूजा में

विशेष महत्त्व है। खड्गमाला से प्रख्यात श्रीयंत्र की पूजा का मालामंत्र भी पंचदश प्रकार है, वह शाक्ततंत्र के साधक जानते हैं। इस तरह श्रीविद्या की उपासना में चन्द्रविद्या का ज्ञान और तिथियों के रहस्य जानना आवश्यक भी है, लाभदायक भी।

इत्यलम्।

सन्दर्भग्रन्थ :

1. *ललितासहस्रनाम* – सौभाग्यभास्कराख्य भाष्योपेतम्, सं. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, प्रथम-1989
2. ब्रह्मानन्दगिरिविरचिता *'शाक्तानन्दतरङ्गिणी'* सं. राजनाथ त्रिपाठी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, प्रथम-1987
3. *प्राणतोषिणी* प्रथमो भागः श्रीरामतोषण भट्टाचार्य सं. हरिवंशकुमार पाण्डेयः, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय: वाराणसी-2000
4. *सौन्दर्यलहरी*, लक्ष्मीधर टीकोपेता
5. *मन्त्रना रहस्यो, मन्त्रोद्धार अने यन्त्रसिद्धिओ* – हर्षदेवमाधव, पार्श्व प्रकाशन, 2004, 2011

8, राजतिलक बंगलोज, आबादनगरम्,
बस स्टोप के पास में, पेट्रोलपंप के सामने,
बोपल, अहमदाबाद-380058
(m) 9427624516, 7874532225
phone : 02717-230072
Email:madhavharshdev@gmail.com

'एकैवाहं जगत्यत्र'

डॉ. हरिशङ्करपाण्डेयः

अखिलब्रह्माण्डभाण्डनायिका,निखिलज्ञानविज्ञानगायिका, सदाऽऽनन्ददायिका, सदाशिवोत्सङ्ग-शायिका, शैलाधिराजदुहिता, त्रिपुरान्तकदयिता, दिव्यवल्कलपिहिता, कमलकुङ्मलकलिता ललिता के पादपाथोजपांसु को पाने की समीहा से भूरिभयाक्रान्त भवाटवी में चराचर चंक्रमण कर रहा है। यथा *श्रीमद्भगवद्गीता* में आनन्दकन्द ब्रजचन्द भगवान् मुकुन्द कण्ठरवेण गौरवेण गाते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। [1]

अर्थात्—अतिविलक्षण त्रिगुणमयी माया को जानना दुस्तर है जो दर्भपवित्रपाणि प्राणी केवल साकल्येन ईश्वर को भजता है वही असारसंसार से पार है, अन्य सब व्यर्थ व्यापार है।

अशेषकल्याणकारिणी, भवाब्धिभयहारिणी,सर्वदुःखनिवारिणी, पतितपाविनी, भूतेशभाविनी, सज्जनानां रक्षिणी, दुर्जनानां भक्षिणी,विरूपाक्षवक्षोलक्षिणी, भगवती दाक्षायणी के याथार्थ्यको जानने में निखिलमुनिमनुजवृन्द और वृन्दारवृन्दारक मौन हैं। मैं तो उनके चारुचरणारविन्द का वन्दारू हूँ। यदा निःशेष लोकेश-रमेश-उमेश भगवती त्रिपुरसुन्दरी के माहात्म्य को साकल्येन वर्णन में समर्थ नहीं है तदा मत्सम अज्ञानघोटकारूढ मूढ की गणना कहाँ है? चराचर के जीवन दाता भगवान् विधाता कहते हैं कि—

सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।
विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च।। [2]

आशय है कि नारायण शङ्कर और मैं (ब्रह्मा) आपके ही कृपाकटाक्ष प्रभाव के कारण शरीर धारण करते हैं। आपके गुणगौरवगायन में कोई समर्थ नहीं है।भगवती भवानी के प्राकट्य के विषय में महामुनि मेधा अपनी सुमेधा से कहते हैं—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।। [3]

भगवती तो नित्यस्वरूपा ही हैं। सम्पूर्ण चराचर उन्हीं पराम्बा जगदम्बा का रूप है। श्लोकप्रोक्त एवकारेण—सा एव नित्या शक्तिः नान्या इति प्रतिभाति। *देव्यथर्वशीर्ष* में स्वयं जननी भक्तजनों से कहतीं हैं कि—**वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम् ॥** [4] भाव है कि मैं

वेद और अवेद तथा विद्या और अविद्या भी हूँ। मैं अजा प्रकृति और तद्भिन्न भी मैं ही हूँ। नीचे और ऊपर तथा उभयत्र मेरी ही गति है। भगवती भवानी के स्वरूप का वर्णन *मुण्डकोपनिषद्* में—**द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवाऽपरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरम् अधिगम्यते।।**[5]

षडङ्गसहिता त्रिगुणरहिता निखिलवेदस्वरूपा माता प्राणिमात्र के हृदय में भासित हो रही है। सृष्टि में हमारी दृष्टि में—स्वर्णस्तम्भ में, और स्तम्ब में भगवती के अतिरिक्त सत्ता नहीं है। चराचर उन्हीं त्रिपुरसुन्दरी का ही विलास मात्र है। अत एव—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।[6]

परब्रह्मप्राप्ति की साधनभूता परास्वरूणी ब्रह्मविद्या आप ही हैं। **एतदेव मनसि निधाय प्रोक्तमस्ति –यया तदक्षरमधिगम्यते सा परा शक्तिः,।**

दुर्गासप्तशती में महता संरम्भेण एक पङ्क्ति दृष्टिगोचर हो रही है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।[7]

भगवती के विद्या स्वरूप के ज्ञान के विना जीवन में नैराश्य है। तत्रभवान् भगवान् निरस्तसमस्ततृष्णः श्रीकृष्णः *श्रीमद्भगवद्गीतायाम्*—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।[8]

परमपुरुषार्थप्रदात्री माता त्रिपुरसुन्दरी जगत्कल्याण के लिए सदैव तत्पर हैं। यह बात तो सर्वविदित है कि माता सर्वदा सुखदा होकर भूरिभद्रप्रवर्षण करती हैं। माता के औदार्य का वर्णन किसी भी कवि के सामर्थ्य का विषय नहीं है। इसी हार्द को स्मरण करते हुये भगवत्तनुस्मृतिकार मनु कहते हैं कि—

सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते।।[9]

न केवल स्मृतियों के ही कथन हैं अपितु उपनिषद् भी मातृमाहात्म्य को भूरिशः कहते हैं। *तैत्तिरीयोपनिषद्* में—**मातृ देवो भव।**[10]

मानव जीवन का परम लक्ष्य निःश्रेयसप्राप्ति को भारतीय दर्शनों ने कण्ठरवेण गौरवेण कहा है। परन्तु तत्प्राप्ति का उपाय क्या है, **इति विचारणायाम्–सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता।''**[11]

जिनका हृदय प्राणिमात्र के उपकार के लिए सदा दयार्द्र है। भगवती भवानी भक्तों के सकल मनोरथों को पूर्णकरणाय सदैव उद्यत हैं। इस विषय में मैं सप्तशती के श्लोक का उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। भगवती स्वयं द्वादशाध्याय के प्रारम्भ में कहतीं हैं—

एभिः स्तवैश्च मां नित्यं स्तोष्यते यः समाहितः।
तस्याहं सकलां बाधां नाशयिष्याम्यसंशयम्।।[12]

अन्य देवता या तो भोग प्रदान करने में समर्थ हैं यद्वा मोक्ष देने में ही सशक्त देखे जाते हैं परन्तु भगवती राजराजेश्वरी तो अपने साधकों को भुक्ति मुक्ति, भक्ति शक्ति, सर्वविधमनोवाञ्छितवरप्रदान करतीं हैं । अत एव निगदितमस्ति—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

भाव है—चण्डिकाचरणारविन्दमकरन्दरसावेशितचेतसाम्, विदुषां करकमलकदम्ब में सकलाभीप्सित-पदपदार्थ विद्यमान और विद्योतमान रहते हैं। जगदम्बा की अविकम्पानुकम्पा होते ही प्राणी के समस्त बन्धन छूट जाते हैं। और सर्वविधशङ्कापङ्ककलङ्कातङ्क से त्वरित मुक्ति मिलती है। यथोक्तं *मुण्डकोपनिषदि*—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।[13]

भगवती स्वयमेव कहती हैं कि जो मनुष्य एकाग्रचित्त होकर ध्यान निदिध्यासन द्वारा मुझे भजेगा वह सद्यः समस्त आधि व्याधियों से मुक्त होकर मेरा भक्त होकर विचरण करेगा—

स्मरन्ममैतच्चरितं नरो मुच्येत संकटात्।
मम प्रभावात्सिंहाद्या दस्यवो वैरिणस्तथा।।[14]

दूरादेव पलायन्ते स्मरतश्चरितं मम।।[15]

वह दयामयी दुर्गा देवी नित्य हैं, सत्य हैं, कृतकृत्य हैं, अत्र समे ऐकमत्य हैं। उन्हीं सर्वदुःखनिवारिणी, त्रिशूलवरधारिणी, भयार्णवतारिणी, अशेषकल्याणकारिणी के हम भृत्य हैं। नित्य होने पर भी माता जगत्कल्याण के लिए प्रकट होकर लीला करती हैं। यही भाव *सप्तशती* के इस श्लोक से प्रकट हो रहा है—

एवं भगवती देवी सा नित्याऽपि पुनः पुनः।
सम्भूय कुरुते भूप जगतः परिपालनम्।।[16]

यहाँ ध्यातव्य है कि वही नित्यशुद्धबुद्धमुक्त परब्रह्म ही कभी स्त्रीभाव से तो कभी पुंभाव से भासित होता है। यह बात हम *श्रीमद्भगवद्गीता* के इस श्लोक से समझ सकते हैं कि ब्रह्म ने ही माता के स्वभाव को धारण किया है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।।[17]

भूतभावन भगवान् भगवती भवानी में अन्तर नहीं है जैसे अग्नि की दाहता शक्ति अग्नि से अभिन्न है, प्रकाशशक्ति जैसे सूर्य से अभिन्न है तथैव चिदात्मा शक्ति चिदात्मा से अपृथक् है। एक ही तत्त्व सत्त्व शिव-शक्ति रूप में भासित हो रहा है। सुरासुरसमर्चित अशेषविशेषनिगमागमचर्चित भक्तजनमानससञ्चित सच्चित् काशीपुराधीश्वर भगवान् अर्धनारीश्वर की तपस्या, उनके पदसरोज की वरिवस्या, उनके नाम धाम की तपस्या, (यस्य चरणारविन्दे भक्तिरस्ति ह्यमुष्य) का यही मौलिक रहस्य है। शक्तिशक्तिमान् में स्त्री-पुंभावभेद करना अनुचित है। यथा *देवीभागवत* में कथित है समर्थित है—

सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता।।[18]

अत एव हि योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् सदपि नारद।।[19]

वह ब्रह्मस्वरूपिणी है, नित्य है, अशेषभद्र की महार्णव है। इस चराचर में समस्त दृश्यमान उसी ममतामयी माता का विवर्त भासित हो रहा है। उन आनन्दाकूपार के अतिरिक्त जगती में अन्य कुछ भी न ध्येय है, न गेय है, न तन्नामातिरिक्त पेय है, किं बहुना उनके पदपङ्कजाश्रय को छोड़कर सकलपदपदार्थ हेय हैं। अत एव *श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्* में कहा गया है—

यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।।[20]

वही राम है, वही कृष्ण है, वही सीता राधा रूप से लक्षित हो रही है। *कूर्मपुराण* में श्लोक प्राप्त होता है-

सहस्रमूर्धानमनन्तशक्तिं सहस्रबाहुं पुरुषं पुराणम्।
शयानमब्धौ ललिते तवैव नारायणाख्यं प्रणतोऽस्मि रूपम्।।[21]

पद्मपुराण में वृन्दावनमाहात्म्य का वर्णन करते हुये भृगुपादप्रहाराहार्यभारसहिष्णु भगवान् विष्णु कहते हैं कि मैं ही वासुदेव रूप से परब्रह्म हूँ साथ ही ललितादेवी मेरा ही रूप है। मुझ में और ललिता देवी में किञ्चिदपि अन्तर नहीं है। इस बात को हे नारद तुम सत्य तथ्य जानो। वृन्दावन मेरा ही वास्तव्य वास्तव है।

अहञ्च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः।
अहञ्च ललितादेवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद।
इदं वृन्दावनं नाम रहस्यं मम वै गृहम्।।

इसी तरह *ब्रह्मवैवर्तपुराण* का श्लोक प्रमाणित करता है कि माता का ही स्त्रीपुंभाव में प्रकाशन हो रहा है—

ममैव पौरुषं रूपं गोपिकाजनमोहनम्।
कदाचिल्ललिता देवी धृतश्रीकृष्णविग्रहा।
वेणुनादविनोदेन मोहयत्यखिलं जगत्।।

यह समस्त प्रमाण अतिश्रद्धास्पद हैं। पुराणों के कर्ता बादरायण श्री व्यास ने भगवान् के विविध रूपों में सर्वोत्तमत्त्व प्रतिपादित किया है। यथा—आपके इष्ट, तत्रभवान् भगवान् ईशान हैं तो यह समझना है कि वही राम, कृष्ण, भगवती राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी, और गणेश, हनुमान् हैं, अत्र यत्किञ्चित् भी भेद नहीं है। भेदबुद्धि मनुष्य का पतन करती है। स्वेष्ट में अनन्यभाव से उपासना करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण के कथन का यही तात्पर्य है। गीता के इस श्लोक के माध्यम से कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। [22]

शक्तिशब्द—शक मर्षणे[23], मर्षणमिह सामर्थ्यम्[24]। शकधातु से - स्त्रियां क्तिन्[25] पाणिनिसूत्र से क्तिन् करने पर सिद्ध होता है। शक्ति का अर्थ सामर्थ्यम्, प्राणः, द्रविणम्, शौर्य्यम्, बलम्, इत्यादि कोषों में वर्णित है। माता सभी प्राणियों के शरीर में शक्ति के रूप में विद्यमान हैं। यही बात *दुर्गासप्तशती* के पञ्चमाध्यायस्थ श्लोक से प्रतिपादित किया गया है—

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।[26]

चराचर की प्रत्येक वस्तु भगवती भवानी के प्रकाश से प्रकाशित है। अशेषज्ञानविज्ञान भगवती का ही स्वरूप है। समस्त जगत् की स्त्रियां भगवती का ही स्वरूप हैं। माता ने ही अपनी कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्था शक्ति से विश्व को व्याप्त कर रखा है। भगवती की स्तुति के लिये शब्द में सामर्थ्य नहीं है। भगवती का ही स्वरूप परा वाणी है। यथोक्तमस्ति—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः।।

भगवान् आदिशङ्कराचार्य भगवती के स्तवन में सौन्दर्यलहरी के प्रथमपद्य में लिखते हैं कि शिवशब्द से इकार निकले से शव रूप हो जायेगा। इकार अर्थात् शक्ति। शक्ति के अभाव में शिव स्पन्दन भी नहीं कर सकते हैं—

शिवश्शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति।।[27]

भगवती शक्ति और भगवान् शिव में कोई अन्तर नहीं है। शिव शक्ति एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। ऋषियों में वरिष्ठ गुरुवसिष्ठ कहते हैं कि शिव और शक्ति सदा ही अनन्यभाव से रहते है। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। यही बात *योगवासिष्ठ* में मुनि के कथन से निकलती है—

यथैकं पवनः स्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा।।[28]

यथा पवन और उसका स्पन्दन अग्नि और उसकी उष्णता एक ही वस्तु हैं, तथैव चिन्मात्र शिव और उसकी स्पन्द-शक्ति सदा ही एकात्म। भगवती के स्वरूप का याथार्थ्य वर्णन इस लघुनिबन्ध में तो क्या वेदों के द्वारा भी सम्भव नहीं है। एतादृशमेव उररीकृत्य—यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, इत्यादि श्रुतिवाक्य श्रुत हैं। माता भवानी का प्राकट्य दुष्ट शक्तियों के नाश और सन्तुष्टि के विकास के लिए होता है। *दुर्गासप्तशती* में जननी के आविर्भाव का भाव एतादृश वर्णित है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।[29]

जगत्प्रसू के पादाब्जपांसु के उपांशु का आशु अभिलाषी मैं, राजराजेश्वरी महाभट्टारिका के स्वरूप का वर्णन कैंसे कर सकता हूँ। माता मेरी धृष्टता को क्षमा करें या क्षाम करें। अन्ते *सौन्दर्यलहर्याः* एकं निरवद्यं हृद्यं पद्यं प्रपद्ये—

नमोवाकं ब्रूमो नयनरमणीयाय पदयोः
तवास्मै द्वन्द्वाय स्फुटरुचिरसालक्तकवते।
असूयत्यत्यन्तं यदभिहननाय स्पृहयते
पशूनामीशानः प्रमदवनकङ्केलितरवे।।[30]

या वै मताऽस्ति देवानामृषीणां याऽस्ति पूजिता।
सैव वसतु हृद्देशे महाभट्टारिका सदा।।[31]

सन्दर्भ

1. *श्रीमद्भगवद्गीता,* 7-14
2. *दुर्गासप्तशती,* 1- 84
3. *दुर्गासप्तशती,* 1-64
4. *दुर्गासप्तशतीदेव्यथर्वशीर्ष,* में पृष्ठसंख्या 45 (गीताप्रेस)

5. *मुण्डकोपनिषदि,* 1-1 4 .5
6. *दुर्गासप्तशती,* 5 -17.18.19,
7. *दुर्गासप्तशती,* 1-57
8. *श्रीमद्भगवद्गीता,* 4-38
9. *मनुस्मृति,* 2-145
10. *तैत्तरीयोपनिषद्,* 1.11.2
11. *दुर्गासप्तशती,* 4-17
12. तत्रैव, 12-2
13. 2-2-8
14. *श्रीदुर्गासप्तशती,* 12-29
15. तत्रैव, 12- 30
16. तत्रैव, 12-36
17. *श्रीमद्भगवद्गीता,* 9-17
18. *देवीभागवत,* 9-1-10
19. तत्रैव 9-1-11
20. *श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्,* श्लोक 24
21. *कूर्मपुराणे,* 11-245
22. *श्रीमद्भगवद्गीता,* 11- 55
23. *दिवादिगण धातुसंख्या,* 1187
24. *बालमनोरमा,* पृष्ठ, 335 (बालमनोरमा तत्त्वबोधिनीसहिता)
25. *पाणिनिसूत्रम्,* 3-3-94
26. *दुर्गासप्तशती,* 5-34
27. *सौन्दर्यलहरी,* 1
28. *योगवासिष्ठ,* 6 (2) 84 -3या
29. *दुर्गासप्तशती,* 1 -65
30. *सौन्दर्यलहरी,* 85
31. मम

सहायकाचार्य(सं), व्याकरणविभागे
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय
श्रीरणवीरकैम्पस कोटभालवाल
जम्मू-181122
चलवाणी-9797470260

हठयोगप्रदीपिका में वर्णित साधनातत्त्वों की दार्शनिक समीक्षा (नादतत्त्व के विशेष संदर्भ में)

डॉ. प्रदीप

संक्षिप्तिका (Abstract)

नमः शिवाय गुरवे नाद-बिन्दु-कलात्मने।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः।।

प्रस्तुत मंगलाचरण में ग्रन्थकार ने साधना अवस्था के विवेचन से पूर्व समाधिक्रम अर्थात् ग्रन्थ के चतुर्थ उपदेश में मंगलपाठ करते हुए कहा है—नित्यसुख स्वरूप गुरु अर्थात् शिव, जिनका आकार नाद, बिन्दु और कला के मूर्तरूप है। उसको मैं प्रणाम करता हूँ। क्योंकि उन गुरु की आज्ञापालन करते हुए नित्य योगाभ्यासी साधक साधना के अन्त में निरञ्जनपद अर्थात् मायोपाधि से रहित होकर शुद्ध पद की प्राप्ति कर लेता है।[1]

भारतीय ज्ञानपरम्परा के परमतत्त्व का साक्षात्कर करना ही जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। इसके संदर्भ में प्राच्य संस्कृत के आधारभूत ग्रन्थों में साधना, समाधि, परमतत्त्व, योगांग, नादानुसंधान, आध्यात्म, धर्म-दर्शन एवं भक्ति के विविध मार्गों के साक्षात्कार पदे-पदे परिलक्षित होता है। आगम-निगम ज्ञानपरम्परा के ज्ञानग्रन्थों में साधनतत्त्वों के ज्ञानमणिकों का साधकों द्वारा निरन्तर अभ्यास किया जाता है। जिसमें साधना अवस्था के विविध यौगिकतत्त्वों अनुसंधान एवं हठयोगशास्त्र के नियमों का सहजता से पालन किया जाता है।

प्रस्तुत लेख में "*हठयोगप्रदीपिका* में वर्णित साधनातत्त्वों की दार्शनिक समीक्षा (नादतत्त्व के विशेष संदर्भ में)" विषय को केन्द्रित करके महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान की गई है। यह लेख योगपरम्परा के पाठकों, शोधार्थियों एवं छात्रों के लिए मौलिक चिन्तन के रूप में निश्चित ही सहायक सिद्ध होगा।

शब्द-संकेत (Key-Worsd)

हठयोग का परिचय एवं साधनापरक महत्त्व, योगसाधना के तत्त्व, योग अंगों का स्वरूप, महामुद्राएँ, नादतत्त्व की दार्शनिक समीक्षा।

विषयवस्तु (Subject)

भारतीय योगसाधना ज्ञानपरम्परा में *हठयोगयोगप्रदीपिका* ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रारम्भ में ही ग्रन्थकार स्वात्माराम योगीन्द्र द्वारा स्वगुरु श्रीनाथ को प्रणाम करके ग्रन्थ की रचना करते हुए हठयोगविद्या का उपदेश दिया गया है—

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥

भारतीय साधना ज्ञानधारा में हठयोग साधना की सुदीर्घ परम्परा का अनवरत सर्वत्र परिलक्षित होती है। यह योगपरम्परा में वेद, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, वेदान्त, योगदर्शन, तन्त्र आगम साहित्य, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी ज्ञानधाराओं में वर्णित है।

हठयोगविद्या के आचार्यों की ज्ञानपरम्परा विशाल है। जिसमें श्री आदिनाथ, श्रीमत्स्येन्द्रनाथ, शाबर, आनन्दभैरव, चौरङ्गीनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ., विरूपाक्षनाथ, बिलेशयनाथ, मन्थान भैरव, सिद्धिनाथ, बुद्धनाथ, कन्थडिनाथ, कोरन्टकनाथ, सुरानाथ, सिद्धिपाद, चर्पटिनाथ, कानेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरञ्जननाथ, कपालीनाथ, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वरनाथ, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोलीनाथ, टिण्टिणिनाथ, भानुकिनाथ, नारदेव और खण्डकापालिक आदि महासिद्धों द्वारा हथयोगविद्या का आत्मसात् किया गया था।[2] यह साधना साधक को बहुत ही सरलत और सहजता के साथ जीवन शैली के नियमों में संयुक्त करके रखती है। साधना अवस्था में हठविद्या का बहुत अधिक महत्त्व माना गया है। यह हठविद्या कैवल्य अर्थात् निर्वाण के इच्छुक साधक को अतिशय रुप से गोपनीय रखनी चाहिए। इसका कारण यह है कि इसे गुप्त रखने से ही यह साधक के लिए लाभप्रद होगी। अतः इस हठयोग का उपदेश ऐसे जिज्ञासु को ही करना चाहिए जो जितेन्द्रिय, शांतचित्त, संसार से मुक्त होने की इच्छा, निर्दोष, निरासक्त तथा निर्विकार हो। इसके संदर्भ में स्पष्ट कहा गया है—

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद् वीर्यवती गुप्ता निवीर्या तु प्रकाशिता॥[3]

इस हठयोगविद्या का अभ्यास करने के लिए साधक को अनुकूल देश एवं स्थान की महती आवश्यकता होती है जिसमें उचित देश का होना अनिवार्य है। जिस स्थान पर किसी उत्तम एवं बुद्धिमान राजा का शासन हो अथवा प्रजा धार्मिक हो। वहाँ यह साधना साधक के द्वारा साधित की जाती है। इसमें साधक को हिंसक प्राणियों के भयमुक्त स्थान पर रहना उचित होता है। इस अवस्था में साधक स्वनिवास हेतु कुटिया का निर्माण कर लेता है। जहाँ पर उसकी साधना निरतभाव से चलती रहती है। इसमें योगियों को साधना सिद्धि हेतु मुख्यत: छ: प्रकार के कृत्यों का परित्याग करना पडता है। जिनका सामान्य वर्णन इस प्रकार है।

उत्साहात् साहसाद् धैर्यात् तत्त्वज्ञानच्च निश्चयात्।
जनसंसर्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥[4]

1. **उत्साह**—मैं विषयों की ओर दौड़ते हुए अपने चित्त को रोकूगाँ—ऐसे संकल्प उद्यम करो।

2. **साहस**—किसी कार्य के विषय में उसकी साध्यता एवं असाध्यता पर विचार कर उसकी साध्यता जानकर उसमें सहसा साधक की प्रवृत्ति साहस कहलाती है।

3. **धैर्य**—'जीवन में कभी न कभी तो यह कार्य पूर्ण होगा ही' इस प्रकार का स्थिर विश्वास ही धैर्य कहलाता है।

4. **तत्त्वज्ञान**—'ये समस्त सांसारिक विषयभोग मिथ्या हैं तथा एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है' साधक का ऐसा ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। यही तत्त्वज्ञान कहलाता है।

5. **निश्चय**—सम्बद्ध शास्त्र तथा गुरूपदेश में श्रद्धा एवं विश्वास रखते हुए कार्य का प्रारम्भ करना निश्चय कहलाता है।

6. **जनसंग का परित्याग**—इस योगशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त के विरुद्ध विचार रखने वाले विचारकों एवं अनाचारी दृष्टजनों से संग का परित्याग करना चाहिए।

इसी प्रकार से साधक के लिए योगसाधना में छह प्रतिबन्धक कृत्य भी माने गए हैं।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यं च,षड्भिर्योगो विनश्यति॥[5]

1. **अत्याहार**—भूख की मात्रा से अधिक भोजन करना अत्याहार कहलाता है।इसका त्याग योगी के लिए अत्यावश्यक है।

2. **प्रयास**—सीमा से अधिक तन, मन एवं वाणी का परिश्रम। यह कृत्य हठयोगाभ्यासी के लिए त्याज्य ही है।

3. **प्रजल्प** –मात्रा से अधिक संवाद।

4. **नियमग्रह**—इतरसम्प्रदाय अनुमोदित कुछ नियमों के पालन में दुराग्रह करना। जैसे-शीतल जल से ही स्नान करना, प्रातःकाल ही स्नान करना, रात्रि में ही भोजन करना आदि।

5. **जनसंग**—निरर्थकपुरुष आदि की संगति। इस कृत्य से हठयोगी के चित्त में काम, क्रोध, राग, द्वेष, लोभ, मोह,अहंकार आदि विकार उत्पन्न होकर उसकी साधना में विघ्न ही पहुँचाएगें।

6. **लौल्य**—इन्द्रियों की चपलता को लौल्य कहते हैं।

इस प्रकार साधक को साधना के विविध आयामों से निकलना पडता है। योगसाधन ग्रन्थों में योग के स्वरूप का महत्त्व सर्वत्र प्रतिपादित है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा पातञ्जलयोगसूत्र में आठ प्रकार के योग अंगों का विवेचन किया गया है।[6] जिनमें यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिका परिगणन किया जाता है। इसी प्रकार से साधना अवस्था में प्रारम्भिक अवस्था में आसानों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हठयोगप्रदीपिकाकार ने आसन को प्रथम अंग स्वीकार करते हुए उसका विशद वर्णन किया है—

आसनं, कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा।
अथ नादानुसन्धानम् अभ्यासानुक्रमो हठे॥[7]

इसी क्रम में साधाना हेतु प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि को भी सर्वप्रमुख माना गया है। आसन के विविध प्रकारों के संदर्भ में ग्रन्थकार ने वशिष्ठ एवं मत्स्येन्द्रनाथ आदि के प्रमाण से एकादश आसन लिखे हैं। जिनमें स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, उत्तानकूर्मासन, धनुरासन एवं मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, मयूरासन एवं शवासन का परिगणन किया जाता है। इन 11 आसनों के बाद 4 अन्य महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ आसनों के अतिरिक्त साधना अवस्था में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन एवं भद्रासन जैसे महत्त्वपूर्ण आसनों का साधक के द्वार अभ्यास किया जाता है। साधना अवस्था में साधक के द्वारा विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का सहजता से पालन किया जाता है। *हठयोगप्रदीपिका* में दश महामुद्राओं का वर्णन प्रतिपादित है।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्॥[8]

इन दशमहामुद्राओं का सारांश विवेचन इस प्रकार है।

1. **महामुद्रा**—वाम पाद की एडी से योनि को दृढता से दबा कर तथा दक्षिण पाद को भूमि पर सीधा लम्बा फैला कर उसके अंगूठे को, जालन्धर बन्ध करते हुए, दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों से दृढ़ता से पकड़े।

2. **महाबन्ध मुद्रा**—वाम पाद की पार्ष्णि को योनिस्थान में दृढता से सम्पृक्त कर, उस वाम पाद पर अपना दक्षिण पाद रखे।

3. **महावेध मुद्रा**—साधक को चाहिए कि वह अपने शरीर को महाबन्ध मुद्रा की स्थिति में लाकर, कुम्भक प्राणायाम कर, अपने दोनों हाथों को शरीर के दोनों पार्श्व में टिका कर, उनके सहारे से शरीर को ऊपर उठाकर अपने नितम्बों को भूमि पर भूमि पर बार-बार पटके। बार-बार इस क्रिया के करने से सुषुम्ना नाडी में प्राणवायु की गति आरम्भ हो जाती है।

4. **खेचरी मुद्रा**—साधक कपाल मूर्धा में विशेष प्रयास द्वारा का प्रवेश कर अपनी दृष्टि को भ्रुवों के मध्य स्थित करे। यह खेचरी मुद्रा होती है।

5. **उड्डीयानबन्ध मुद्रा**—साधक अपने उदर के ऊर्ध्व एवं अधोभाग को नाभि से ऊपर नीचे करता हुआ उसे पृष्ट भाग से बार बार सम्पृक्त करे। इस क्रिया से प्राणवायु सुषुम्ना नाडी में उड़कर पहुँचता है,अतः इसे उड्डीयान कहते हैं।

6. **मूलबन्ध मुद्रा**—यह दो प्रकार से की जाती है—साधक अपनी पार्ष्णि के उपरि अंश टखना से योनिस्थान को दबा कर गुदा का संकुचन करे या पार्ष्णि से ही गुदा को संकुचित करे।

7. **जालन्धरबन्ध मुद्रा**—यह मुद्रा योगी के नाडीजाल को बांध देती है तथा अधोगामी अमृत जल को सुषुम्ना के माध्यम से ऊपर कपालकुहर में पहुँचा देती है। अतः इसका वाच्यार्थ के अनुरूप जालन्धरबन्ध नाम उचित ही है।

8. **विपरीतकरणी मुद्रा**—आयु बीतने पर, प्रत्येक मनुष्य का शरीर जराजीर्ण होने लगता है। मनुष्य के नाभि प्रदेश में दहनशील सूर्य का वास है; उधर तालुमूल में चन्द्रमा का वास है उस अधोमुख चन्द्रमा से निरन्तर बरस रहे अमृत को नाभिप्रदेशस्थ सूर्य निरन्तर जलाता रहता है।

9. **वज्रोली**—इस मुद्रा के अभ्यास के लिए शास्त्र के वस्तुएँ अत्यावश्यक बताई हैं। पीने के लिए अत्यधिक मात्रा में शुद्ध दूध और स्वाधीन नारी।

10. **शक्तिचालन**[9]—हठयोगशास्त्र में दशमीमुद्रा शक्तिचालन कही गई है। शक्ति का अर्थ है- कुण्डलिनी। इस का प्रबोध ही शक्तिचालन कहलाता है। जैसे किसी तालाबन्द मकान के उद्घाटन का एकमात्र उपाय उस ताले की कुञ्जी प्राप्त करना होता है, वैसे ही योगी के लिए अपने मोक्षद्वार के कपाट को खोलने का उपाय कुण्डलीप्रबोध ही है। क्योंकि जिस द्वार से योगी को मोक्षस्थान तक पहुँचना है उस द्वार पर यह कुण्डलिनी शक्ति, जिसे 'भुजङ्गी' भी कहते हैं, कुण्डली लगाए सोई रहती है।

इसी प्रकार से साधना अवस्था में मुद्राओं के साथ साथ योगी द्वारा धारणा, ध्यान एवं समाधि अवस्था पर भी गहन तप किया जाता है। जिनका सूक्ष्म विवेचन यहाँ वर्णित हैं।

(क) धारणा—योगी की किसी शुभ नाद में आसक्ति ही उस के चित्त की स्थिरता का कारण होती है, इसी को धारणा कहते हैं।

बद्धं तु नादबन्धेन मनः सन्त्यक्तचापलम्।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा॥[10]

(ख) ध्यान—तब वह अन्य सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर योगसाम्राज्य में स्वोन्नति हेतु चित्त से एकमात्र उसी नाद के अनुसन्धान में व्यापृत हो जाएगा।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता"।।[11]

(ग) समाधि—तब इस नाद के सतत श्रवण से साधक का अन्तश्चित रूप सर्प अन्य सभी कुछ भूलकर उसी नाद श्रवण में एकाग्रबुद्धि होता हुआ अन्यत्र दौड़ने का कोई प्रयास न कर वहीं स्थिर हो जाता है। इसी को शास्त्रकार सम्प्रज्ञात समाधि कहते है।

नादश्रवणः क्षिप्रम् अन्तरङ्गभुजङ्गमः।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति॥[12]

अभ्यास करते समय एक ऐसा भी समय आता है जब नाद में प्रवृत्त हुआ साधक का चित्त नाद के संग ही लीन हो जाता है; जैसे कि लकडी में प्रज्वलित अग्नि, लकडी के समाप्त होने पर, उसके संग ही लीन हो जाती है।

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह शाम्यति॥[13]

नादरूप से साधक द्वारा जो कुछ सुना जाता है, उसी को 'शक्ति' 'तत्त्वान्त लय' 'निराकार परमात्मा' कहा जाता है। इसकी प्राप्ति ही असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। समाधि अवस्था साधना को साधन की अन्तिम अवस्था माना गया है। हठयोगप्रदीपिकाकार ने इस समाधि के अनेक एकार्थवाचक पर्याय लिखे हैं, जैसे-राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा एवं तुर्या।

साधना अवस्था की सिद्धि में सामाधि के समय अथवा साधना के समय सर्वाधिक अनिवार्य तत्त्व नादसाधना माना गया है। यह साधक के लिए सर्वाधिक कठिन एवं महत्त्वपूर्ण साधकीय कार्य होता है। नाद के अनुसंधान द्वार साधक के अन्त:करणों का पवित्रिकरण होता है। *हठयोगप्रदीपिका* में नाद के विविध आयामों का वर्णन साधना के संदर्भ में किया गया है।

जिसमें नादानुसंधान का निरुपण करते हुए कहा गया है कि—

अशक्त्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते॥[14]

अर्थात् अपठित होने के कारण तत्त्व के अवबोध में असमर्थ मूर्ख जनों को भी स्वीकृत एवं महान् योगिराज श्रीगोरक्षनाथ द्वारा प्रतिपादित समाधि अवस्था के मुख्य उपाय नादानुसन्धान का निरूपण होता है।

नादानुसंधान के बारे में आदिनाथ ने सवा करोड लय उपायों में नादानुसन्धान को मुख्य उपाय बताया है। इस नादानुसन्धान का अभ्यास पूर्वोक्त शाम्भवी मुद्रा के माध्यम से दक्षिण कर्ण में किया जाता है। कहा भी गया है—

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिर्लयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानकमेवमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्॥[15]

इसी प्रकार से नाद के विविध स्वरूपों का वर्णन साधना अवस्था में साधक के द्वारा साधित किया जाता है।

नादानुसन्धान के भेद—यह नाद साधक की सुषुम्ना नाडी से सर्वप्रथम भ्रमरगुञ्जन, तब वंशी की ध्वनि, तदनन्तर घण्टाध्वनि, तदनन्तर समुद्रगर्जन और अन्त में मेघगर्जन के समान सुनाई देता है।

नाद की चार अवस्थाएँ—नाद की चार अवस्थाओं का वर्णन ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित है।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्॥[16]

1. **आरम्भावस्था**—इसमें साधक प्राणायाम के द्वारा अनाहत चक्र मे ब्रह्मग्रन्थि का भेदन कर लेता है,तो वहाँ नूपुर ध्वनि के समान मधुर निनाद सुनाई देने लगता है।

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् भेदो ह्यानन्दः शून्यसम्भवः।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः॥[17]

इस अवस्था को प्राप्त करके योगी का समग्र हृदयावकाश प्राण वायु से पूर्ण हो जाता है तथा उसका शरीर देवताओं के समान दिव्य आकार,दिव्य,सुगन्ध एवं दिव्य तेज से युक्त रहता हुआ सदा स्वस्थ रहता है—

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान्।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत्॥[18]

2. **घटावस्था**—इसमें साधक प्राणायाम द्वारा अनाहत चक्र में विद्यमान विष्णुग्रन्थि का भेद कर प्राण,अपान,नाद,बिन्दु एवं जीवात्मा परमात्मा का सम्मिलन कर देता है। अतः इस अवस्था में उसे परमानन्ददायक भेरी शब्द सुनाई देने लगता है। यथा उक्त भी है—

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्वहति मध्यगः।
दृढासनो भवेद् योगी ज्ञानी देवसमस्तथा॥[19]

3. **परिचयावस्था**—इस अवस्था में योगी को अपने भ्रूमध्यस्थ आकाश में मर्दल (वाद्य) की ध्वनि सुनाई देने लगती है। तब उसका वह प्राणवायु महाशून्य स्थान में पहुँच जाता है। यही स्थान अणिमादि सर्वसिद्धियों का आश्रयस्थल है—

तृतीयां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्॥[20]

यह ध्वनि साधक के चित्त में स्थित लौकिक आनन्द को तिरस्कृत कर सहज आनन्द का आविर्भाव कर देती है। इस आनन्द के होने पर वहाँ वात, पित्त, कफ जन्य रोग, दु:ख, जरा, भूख, प्यास एवं निद्रा का अभाव हो जाता है—

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः॥[21]

4. **निष्पत्त्यवस्था**—इस अवस्था में योगी का प्राण वायु रुद्रग्रन्थि का भेदन कर भ्रूमध्य में पहुँच जाता है, तब वहाँ उसे वेणु की सुमधुर ध्वनि सुनाई देती है। यही अवस्था चित्त की एकाग्र अवस्था कहलाती है।

रुद्रग्रन्थिं तदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत्॥[22]

जो साधक राजयोग का रहस्य न जानते हुए केवल हठयोग का ही अभ्यास करते हैं वे हठयोग का वास्तविक फल नहीं पा सकते, यह स्पष्ट कहा गया है—

राजयोगं न जानन्ति केवलं हठकर्मिणः।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान्॥[23]

नादानुसन्धानके प्रत्याहारादि क्रम में साधनाविधि—योगाभ्यासी अपने हाथों के अंगूठों से अपने कर्णच्छिद्रों को बन्द करके, जो नाद ध्वनि सुनता है उसमें स्वकीय चित्त को तब तक स्थिर रखे जब तक वह योगी तुरीयावस्था तक न पहुँच जाए—

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते॥

अर्थात्—जिस प्रकार मकरन्द को पीता हुआ भ्रमर उस पुष्प की गन्ध की आकांक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार साधक का नादासक्त चित्त अन्य लौकिक विषयों की आकांक्षा नहीं रखता। भले ही वह नाद गम्भीर हो सूक्ष्म।[24]

इस प्रकार से हठयोगसाधना साधक के आध्यात्मिक बल का सम्पूर्ण परिणाम होता है। इसके अतिरिक्त भी साधना में विविध प्रकार के नियमों का पालन किया जाता है। इनमें दश यम भी प्रमुख हैं। अन्ततोगत्वा साधक अपनी साधना के सुखद परिणाम को पाकर स्वयं शिवमय हो जाता है। वह उसकी जीवन्मुक्त की अवस्था होती है। कहा भी गया है।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद् योऽवतिष्ठते।
निःश्वासोच्छवासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः॥[25]

अर्थात् वह साधक जाग्रदवस्था में भी इन्द्रियों से एवं मन से स्वस्थ रहता हुआ अपने काय एवं इन्द्रियों के व्यापार से रहित हुआ सोए हुए की तरह व्यवहार करता है। वह श्वास एवं उच्छ्वास का निरोध कर निरन्तर जीवन्मुक्त स्थिति में रहता है।

उपसंहार (Conclusion)

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हठयोगविद्या योगसाधना पद्धतियों में सर्वाधिक कठिन विद्या है। इसको साधना कठिन कार्य है। तथापि यह साधकों के द्वारा साधित की जाती है। यह योगशास्त्रीय विद्या गोपनीय है। जिसका संदर्भ में कहा गया है—"**योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम्।**"[26] इस प्रकार से योगी साधक साधना अवस्था में जिन जिन वस्तुओं का साक्षात्कार करत है वह सब आत्मा ही हैं—

"**यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत्**"।[27] इस प्रकार से अन्ततोगत्वा साधना स्वयं शिवमय हो जाता है नाद के अनुसंधान में स्वयं नादमय होकर शान्त हो जाता है। *शिव संहिता* में स्पष्ट कहा गया है—

तत्र नादे यदा चित्तं योगिनो रमते भृशम्।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति॥

संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

1. *हठयोगप्रदीपिका*, स्वामात्माराम योगेन्द्र विरचित, सम्पा. व्या. स्वामी श्रीद्वारिकादास शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण, 2009
2. *काश्मीरीय शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र द्विवेदी :*, श्यामकान्त, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2009
3. *शिवसंहिता* (योगशास्त्र), व्या. डॉ. श्रीवत्स, चौखम्भा ओरियन्टालिया, जवाहर नगर, दिल्ली, 2012
4. *भारतीय शक्ति साधना : स्वरूप एवं सिद्धान्त* : श्यामाकान्त द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण- 2012
5. *योग : सिद्धान्त एवं साधना*, पं. हरिकृष्णा शास्त्री दातार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण, 1998

सन्दर्भ

1. *हठयोगप्रदीपिका,* चतुर्थ उपदेश, समाधिक्रम, प्रथम श्लोक
2. *हठयोगप्रदीपिका*, प्रथम उपदेश, श्लोक संख्या, 5-8
3. *हठयोगप्रदीपिका*, प्रथम उपदेश, श्लोक संख्या, 11

4. *हठयोगप्रदीपिका*, प्रथम उपदेश, श्लोक संख्या, 16
5. *हठयोगप्रदीपिका*, प्रथम उपदेश, श्लोक संख्या, 15
6. *पा. यो. सूत्र*, द्वि० पा०, सूत्र संख्या, 21
7. *हठयोगप्रदीपिका*, प्रथम उपदेश, श्लोक संख्या, 56
8. *हठयोगप्रदीपिका*, तृतीय उपदेश, श्लोक संख्या, 6-7
9. *हठयोगप्रदीपिका*, भूमिका, पृ० संख्या, 36
10. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 92
11. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 93
12. हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 97
13. हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 98
14. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 65
15. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 66
16. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 66
17. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 70
18. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 71
19. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 72
20. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 73
21. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 74
22. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 76
23. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 79
24. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल, श्लोक संख्या, 90
25. *हठयोगप्रदीपिका*, चतुर्थ पटल , श्लोक संख्या, 112
26. *शिव संहिता*, प्रथम पटल , श्लोकसंख्या, 11
27. *शिव संहिता*, तृतीय पटल , श्लोकसंख्या, 68

(सहायक प्रोफेसर)
संस्कृत विभाग (साहित्य विद्यापीठ)
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र, भारत

नास्तिकदर्शनेषु पुनर्जन्मवादः

डॉ. सुजाता पटेल

सर्वविदितमस्ति यद् मुख्यरूपेण नव भारतीयदर्शनानि स्वीक्रियन्ते। तानि नव दर्शनान्यपि स्थूलरूपेण द्विधा विभज्यन्ते-आस्तिकदर्शनानि नास्तिकदर्शनानि च। भारतीयदर्शनेषु कर्मणा मनुष्याणां कृते पुनर्जन्मव्यवस्था प्रतिष्ठापिता वर्तते। प्राचीनधार्मिकग्रन्थेषु स्वर्गस्य नरकस्य सङ्केतः प्राप्यते। तेषु ग्रन्थेषु उच्यते यत् स्वर्गः नरकश्च पारलौकिके स्थाने स्तः। स्वर्गम् आनन्ददायकं स्थानमस्ति यत्र मानवाः स्वसत्कर्मणां कृते पुरस्क्रियन्ते विपरीतमेतन्नरको कष्टप्रदं स्थानमस्ति यत्र मानवाः स्वाशुभकर्मणां कृते दण्ड्यन्ते। यः सत्कर्म करोति, यजति जुहोति च स स्वर्गे गच्छति योन च सत्कर्म करोति, हिंसां करोति चौरादिकार्य करोति स नरकं प्राप्नोति। प्रायः सर्वेषु भारतीयदर्शनेषु पुनर्जन्मव्यवस्था कर्मस्वाधारिता वर्तते। किं त्वपवादरूपेण चार्वाका आत्मनः सद्भावं न स्वीकुर्वन्ति। चार्वाकजैनबौद्धदर्शनानि नास्तिकरूपेण परिगण्यन्ते। चार्वाकदर्शने पुनर्जन्मवादस्य सर्वथा खण्डनं कृतमस्ति किं तु बौद्धजैनदर्शनयोः एतस्मिन् विषये स्वीकृतिः कृतास्ति। अत्र संक्षेपरूपेण एतेषु त्रिषु नास्तिकदर्शनेषु वर्णितपुनर्जन्मवादस्योपरि विचारः क्रियते।

चार्वाकदर्शनम्

धार्मिकग्रन्थेषु स्वर्गस्य नरकस्य यत् चित्रं दर्शितं तत् चार्वाकदर्शनं न मन्यते। चार्वाका एव लौकायतिका इति निगद्यन्ते। ते यदृच्छावादिनश्चतुर्भूतवादिनश्च भवन्ति। पृथिव्यप्तेजोवायूनां यदृच्छासंघातेन शरीरं जायते। तत्र चैतन्यं तथोत्पद्यते यथा यवगुडादिषु मद्यरूपेण परिणतेषु मदो जायते। तन्मते मरणमेव मुक्तिः। चार्वाकानुसारेण आत्मा शरीराद् भिन्नो नास्ति। यदा आत्मनोऽस्तित्वमेव नास्ति तर्हि केन स्वर्गः नरकं वा प्राप्स्यते। आत्मन अभावे परलोकस्य कल्पनायाः कोऽप्याधारो नास्ति। एतेषां नये प्रत्यक्षमेव केवलं प्रमाणत्वेनानुगृहीतम्, न च ते प्रमाणान्तराणि मन्यन्ते तेनात्र पुनर्भवस्य नैव स्वीकृतिः तस्य परोक्षत्वात्। अत एव अस्मिन् दर्शने स्वर्गनरकयोरस्तित्वमपि नास्ति। चार्वाकाः स्वमतं इत्थं प्रतिपादयन्ति

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।।[1]

पुनर्जन्मव्यवस्थां दुर्व्यवस्थां मन्वानाश्चार्वाकाः प्राहुः—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।[2]

अस्मिनेव जन्मनि कर्मफलानि समीहन्ते देहिनः। अत एव पुनर्जन्मनः प्रत्यक्षाभावेनास्मिन् दर्शने नैव ग्रहणम्।

बौद्धदर्शनम्

बौद्धदर्शनं परलोकवादस्य कर्मवादस्य वा सत्तां स्वीकरोति। बौद्धदर्शने पुनर्जन्मवादसन्दर्भे कर्मसिद्धान्तस्य प्रतिपादनं कृतमस्ति। वैदिककाले सृष्टेः सञ्चालनं ऋतेन मान्यमासीत्। सर्वाण्यनुष्ठानानि, धार्मिकविधिविधानानि नैतिकनियमाश्च ऋत एव समाविष्टा भवन्ति स्म। किं त्वुपनिषत्काले धार्मिकयज्ञयागानां निष्फलतां साधयितुं नैतिकसिद्धान्तान् च रक्षितुं कर्मसिद्धान्ताः प्रतिष्ठापिताः। पुनर्जन्मसमर्थनाय सिद्धान्तोऽयं परमोपयोगी आसीत्। बौद्धदर्शनेऽपि उपनिषदामयं सिद्धान्तः स्वीकृतोऽस्ति। *अगुत्तरनिकाये* तथ्यमिदं द्रष्टव्यमस्ति। इत्थमनेकानामाख्यानां विवेचनं बुद्धेन पुनर्जन्मवादस्य समर्थनाय कृतम्। बौद्धानां सर्वेषु प्रस्थानेषु न कश्चिदात्मा परिगणितः। तथापि तत्र बौद्धप्रस्थानेषु रूपसंज्ञासंस्कारवेदनाविज्ञाननामकेषु पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वपि मिथ्यासंघातभूतेषु आत्मत्वारोपेण पुनर्जन्मनो व्याख्यानं प्रसरति। स्कन्धा एव कर्मणां प्रतीत्यसमुत्पादे हेतवः। त एव जायन्ते, नियन्ते, पुनर्जायन्ते च। पुनर्जन्मविषये बौद्धास्तावदेवं समुद्घोषयामासुः—

पुनर्भवाय संस्कारानविद्यानिवृतस्त्रिधा।
अभिसंस्कुरुते यांस्तैर्गतिं गच्छति कर्मभिः।।[3]

बौद्धानां मते यदि आत्मा नास्ति कस्य तर्हि निर्वाणं भविष्यति कथं च? एतस्य समर्थने बुद्धेनोक्तं यद् यथा महासागरस्य एक एव लवणात्मकः स्वादः वर्तते तथैव धर्मस्य नैतिकतायाश्च निर्वाणमेवैक: स्वादो वर्तते। निर्वाणस्यार्थो निर्वपनमिति वर्तते। यथा दीपस्य अग्ने, निर्वाणं भवति तथैव कर्मफलस्य क्षये सति विच्छिन्नप्रवाहरूपात् उन्नतजीवनप्रवाहस्य अत्यन्तविच्छेद एव बौद्धदर्शने निर्वाणम् इति कथ्यते।

बौद्धा अनात्मवादमवलम्ब्यापि पुनर्भवं व्यवस्थापयन्ति। पुनर्जन्महेतूनां विमर्श कर्मण: कारणतां सर्वे सम्प्रदायाः स्वीकुर्वन्ति। तत्र चातीतकर्माधीनं वर्तमानं जन्म। वर्तमानजन्मनि कृतैः कर्मभिरनागतं जन्म पुनर्जन्म वा भवति। अर्थाद् कर्माणि विपाकाय तत्परतां व्रजन्ति तदैव पुनर्भव: पुनर्जन्म वा स्थानं लभते। एवञ्च सर्वेषां पुनर्भवपदानां हेतूनां मूलमविद्येति नास्ति विवादलेशः।

बौद्धा हि सर्वथा नवीनामेव कामपि सरणिमनुसरन्ति। आत्मवादिदर्शनेषु यथा पुनर्भवादीनां व्यवस्था जीवस्य च स्वरूपं प्रतिपादितं तथा नेह प्रवर्तते। बौद्धानां चतुर्धा सम्प्रदायेषु सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च पालिग्रन्थाननुसृत्य कर्मविपाकं पुर्नभवं वा व्यवस्थापयन्ति।

जैनदर्शनम्

जैना अपि बौद्धदर्शनमिव आत्म-पुनर्जन्म-कर्मसिद्धान्तादीन् स्वीकुर्वन्ति। तेषां मते आत्मा सङ्कोचशीलः विकासशीलश्च वर्तते। मोक्षावस्थायामस्य आकारः प्रकारश्चाक्षुण्णो भविष्यति। तर्हि कथं जैनिनां मते आत्मा नित्योऽजरोऽमरश्च भवितुं शक्नोति। जैनधर्मे पृथ्वीजलवाय्वग्निवनस्पतिषु आत्मा स्वीकृतोऽस्ति।

जैनिनां कर्मसिद्धान्तमान्यतानुसारेण ईश्वरो जगत्स्रष्टृरूपेण मान्यो नास्ति। तस्मिन् काले समाजः चिन्तनं प्रत्यभिमुख आसीत्। शनैः शनैः महावीरप्रभृतयो जैनसाधकाः जनेषु मध्ये तीर्थङ्करसर्वज्ञपरमात्मरूपेण पूज्या अभवन्। एतेषां कर्मसिद्धान्त इदानीं व्यापको जातः। कर्मसिद्धान्तस्य प्रतिपादने जैनविद्वद्धिः अनेके ग्रन्था विरचिताः।

जैनदर्शने कर्मफलप्रदातृत्वेनेश्वरस्य स्थापना न क्रियते। जीवानां कर्माण्यनुसृत्य पुद्गला जीवाश्च तथा परिणामं लभन्ते यथा तत्तद्योनिषु जन्म भवति। अस्मिन् नये बन्धस्य जन्मनो वा पञ्चकारणानि निर्दिष्टानि सन्ति। तानि च *तत्त्वार्थाधिगमे* सूत्रे प्रोक्तानि वर्तन्ते। यथा—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।[5]

अयमर्थः

मिथ्यादर्शनम्, अविरतिः, प्रमादः, कषायः, योगश्चेति पञ्चकं जीवमावरणरूपेण बध्नाति। निर्विकल्पकज्ञानरूपं दर्शनं यदा मिथ्या जायते, तदा सम्यग्दर्शनस्याभाव एव सर्वथा भवतीति बन्धस्य मूलकारणमेतत्। तेन च विरतिर्न जायते। भोगेषु रतिरेव निरन्तरं प्रसरति। तथा च सम्यग्ज्ञानादीनामर्जनाय नावधानं दीयत इति जीवः प्रमादी भवति। एवश: पापादिवासना कषायरूपेण जीवं बध्नाति। कषायेभ्यश्च योगो भवति। कर्मणां सम्बन्ध एवेह योगः। कर्मसम्बन्धरूपयोगेन जीवः पौनः पुन्येन जन्ममरणचक्रं गृह्णातीति।

अयमत्र सारः यत् जीवकृतानि कर्माण्येव बन्धभोगयोः कारणानि भवन्ति। जीव एव पुद्गलयोगेन जन्म लभते मरणञ्चानुभवति। मरणानन्तरं च पुनर्भवं प्राप्नोति। अस्मिन् दर्शने जीवः परिणामी भवति। तथा च जीवपरिणामरूपौ बन्धभोगौ भवतः। तेन भावभोगस्य च व्यवस्था क्रियत इति।

अनेन प्रकारेणात्र संक्षिप्तरूपेण नास्तिकदर्शनेषु पुनर्जन्मवादविषये विचारः विवेचितोऽस्ति।

संदर्भाः

1. *तत्त्वोपप्लसिंहग्रन्थे प्रारम्भे।*
2. *सर्वदर्शनसंग्रहे प्रथमेऽध्याये।*
3. *मध्यमकशास्त्रे* 26.1.
4. *भारतीयदर्शनम्* (जदीशचन्द्रमिश्रः) 336 तमे पृष्ठे।
5. *तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे* 68.1.

प्रवक्ता, संस्कृतविभाग
आर्य महिला पी.जी. कालेज,
वाराणसी-221001
चलवाणी- 8299070742

विश्व की ऊर्जा एवं प्रेरणा स्रोत : सूर्यदेवता का वैशिष्ट्य

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

ऋग्वेद में वर्णित सौर परिवार में सूर्य देवता की महत्ता एवं वैशिष्ट्य अप्रतिम है। समग्र सौर परिवार में प्रकृष्ट सूर्य देवता का जगत् में अहरहः दृश्यमान भौतिक सूर्य के साथ तादात्म्य भाव से देवता इन्हीं के अधीन रहते हुए समयानुसार समस्त जागतिक प्रपञ्च के निर्वहन में इनका सहयोग करते हैं। *ऋग्वेद* के चौदह सूक्त सूर्य को समर्पित हैं। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष अनुभूयमान साकार देवता हैं। समस्त स्थावर जंगमात्मक जगत् की आत्मा कहे गए हैं।

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । (*ऋग्वेद,* 1.115.1)

परिदृश्यमान सूर्य के अनेक कार्य तथा रूप हैं। फलतः ये ऋग्वेद में अनेक नामों से स्तुत्य हुए हैं। ये ज्वालामण्डित मण्डल के रूप में मित्र, जीवन तथा महान् कार्य के महान प्रेरक रूप में सविता, पशुओं के पोषक तथा संरक्षक के रूप में पूषा, आकाश से लेकर पथिवी पर्यन्त मात्र तीन पादप्रक्षेपों के रूप में व्याप्त हो जाने से विष्णु, अपने आगमन के ठीक पूर्व आकाश में अनुपम सौंदर्य आभा को प्रादुर्भूत करने के रूप में उषा तथा प्रातः काल सभी दिशाओं को आलोकित करने के रूप में विवस्वान् के नाम से स्तुत्य हैं।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है—सुहृदयों के सत्कारकारी सूर्य जिस प्रकार उदित होकर आगे बढ़ते हैं उसी प्रकार हम उपासकगण प्रशस्त मन्त्र एवं प्रशस्त नेत्रों से आपका दर्शन करें। प्रतिदिन हम स्वस्थ शरीर से समस्त आधिव्याधियों से निर्बाध होकर आपका अवलोकन कर सकें तथा दीर्घजीवी होकर आपके दर्शन की प्राप्ति कर सकें, इस प्रकार हमें अनुगृहीत करें। इसी सूक्त में सूर्य से प्रार्थना करते हुए उपासक कहते हैं—हे सर्वदर्शक सूर्य! आप प्रकाण्ड ज्योति पुंज को अपने में धारण करें। आपकी आभा उज्ज्वल है, समस्त लोगों के नेत्रों में आप सुख से विराजमान रहते हैं तथा सबके लिए सुखकर हैं। जिस समय आपकी वह मानवीकरण मूर्ति आकाश के ऊपर विद्यमान होती है उस समय हम उपासक गण प्रदीप्त शरीर के साथ प्रतिदिन आपका अवलोकन करें।

महि ज्योतिर्बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषे चक्षुषे मयः ।
आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ।। (*ऋग्वेद,* 10.37.8)

कतिपय भागों में सूर्य का अग्नि के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो सूर्य एवं अग्नि में तादात्म्य स्थापित किए हुए है, जो देखने से भी लगता है सूर्य में अग्नि तथा अग्नि में सूर्य की सत्ता संवर्धित है। इसलिए वैज्ञानिकों ने भी सूर्य को अग्नि का गोला कहा है। सूर्य समस्त ज्योतिर्मय पदार्थों में श्रेष्ठ और अग्रगण्य

हैं। ये विश्वजित् एवं धनजित् तथा बल स्वरूप अविचल तेज वाले हैं। गति पारायण सूर्य उदयाचल पर्वत को प्राप्त करके अपनी जननी पूर्व दिशा का आलिंगन करते हैं. तदुपरान्त वह अपने पिता आकाश की ओर जाते हैं।

सूर्य देव का ऐसा महात्म्य है कि वे मानवों को दिवस कर्म के समाप्त होने के साथ-साथ ही ब्रह्माण्ड में विकीर्ण अपने अनन्त किरण जाल का उपसंहार कर डालते हैं। ऋग्वेद में आदित्य नामों में मित्र, अर्यमन, भग, वरुण, अंश एवं दक्ष की चर्चा प्राप्त होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आठ—मित्र, वरुण, अर्यमन, अंश, भग, धाता, इन्द्र तथा विवस्वान् के नामों का उल्लेख मिलता है। भारतीय परम्परा द्वादश अदित्यों की संख्या बताती है—धाता, मित्र, अर्यमा, उषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता,अंशुमान् एवं विष्णु हैं। ये द्वादश आदित्य ही संवत्सर के बारह महीनों के अलग-अलग अधिपति हैं। **अदितेरपत्यः पुमान् आदित्यः** की व्याख्या के अनुसार माँ अदिति के गर्भ से उत्पन्न समस्त देवता आदित्य कहे जाते हैं किन्तु किंचित कालक्षेप के अनन्तर आदित्य संज्ञा केवल सूर्य के अर्थ में रूढ़ हो गई। *अथर्ववेद* के दूसरे काण्ड के इक्कीसवें शत्रुनाशन सूक्त में सूर्य की पाँच शक्तियों—संतप्त शक्ति, हरणशक्ति, परिज्वलनशक्ति, शोकाभिभव शक्ति एवं पराविभूत शक्ति के नाम से उनमें अंतर्निहित पाँच शक्तियों का वर्णन मिलता है।

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।। (*अथर्ववेद,* 2.21.1)

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चौबीसवें सूक्त के कतिपय मंत्रों में सूर्य की सर्वोपरि महत्ता दर्शायी गई है, जिसमें सूर्य को जल सर्वस्व अधिष्ठाता मानकर उनसे प्रार्थना की गई है कि हे सर्वदाता सूर्य। आप श्रेष्ठ धन के स्वामी हैं। इन्द्र. सोम, विष्णु, धाता तथा अंगिरस आपके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं इसलिए आप से उपयोग किए जाने योग्य धन की याचना की जाती है।

अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम् । सदावन् भगमीमहे ।। (*ऋग्वेद,* 1.24.3).

सूर्य सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करते हैं तथा प्रत्येक प्राणियों के कर्मों की निगरानी करते हैं। इनके घोड़े इन्हें सारे संसार के दर्शन हेतु ऊपर ले जाते हैं।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम ।। (*ऋग्वेद,*1.50.1)

सम्पूर्ण संसार के प्रकाशक सूर्यदेव का आगमन होने पर नक्षत्र गण उसी प्रकार लुप्त हो जाते हैं जिस प्रकार सुबह होते ही चोर।

अप त्ये तायवो तथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । सूराय विश्वचक्षसे।। (*ऋग्वेद,* 1.50.2)

दीप्तिमान् अग्नि की तरह सूर्य की सूचक किरणें अपने दीप्ति से सम्पूर्ण जगत् को एक-एक कर देखती हैं। (*ऋग्वेद* 1.50.3) सूर्य ही उत्कृष्ट ज्योति वाले हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि हे प्रकाशयुक्त सूर्य आज उदित होकर और उन्नत आकाश में चढ़कर मेरा हृद्रोरोग या मानस रोग एवं हरीणाम (पीलिया) रोग को विनष्ट करें।

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय। (*ऋग्वेद,* 1.50.11)

मैं इस रोग को शुक एवं सारिका नाम के पक्षियों पर छोड़ता हूँ। अपना हरिमाण रोग हरिद्रा पर स्थापित करता हूँ। ये सूर्य देव हमारे अनिष्टकारी, अमंगलकारी रोग के विनाश के लिए समस्त धुति के साथ उदित हुए हैं। सूर्य अपने तेज द्वारा सबका कल्याण करते हैं। इसीलिए इनको सर्वरोग विनाशक कहा गया है। सूर्य के सहचर देवता अग्नि, वायु, वरुण एवं मित्र हैं जो सूर्य किरणों के समान सतेज एवं दुष्प्राप्य हैं। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा वृष्टि जल का दोहन करते हैं वैसे ही इंद्र आकाश का दोहन कर वर्षा के रूप में चारो ओर प्रसारित हो जाते हैं।

सूर्य से प्रार्थना करते हुए कहा गया है। हे सूर्य रश्मियों! सूर्योदय काल में आप हमें पाप से छुड़ाएँ। साथ ही साथ सूर्य से उनके सहचर देवता मित्र, वरुण, अदिति, सिंधु, पृथिवी तथा आकाश से भी शुभकामनाओं की कामना की गई है। सूर्य सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियों के नेत्र कहे गए हैं। हमारे जीवन में जो स्थान नेत्र का है वही स्थान सूर्य का भी है। *अथर्ववेद* में कहा गया है कि प्राणियों के नेत्र सूर्य आकाश, पृथिवी और जल के भीतर भी देखते हैं।

सूर्यो या सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैक चक्षुरा रुरोह दिवं महिम्।। (*अथर्ववेद*, 13.1.45)।

आज का विज्ञान भी मानता है कि समस्त प्राणी सूर्य की ऊर्जा पर ही जीवित रहते हैं। जल के भीतर विद्यमान जीव तथा पौधे भी सूर्य की ऊष्मा द्वारा ही विकसित होते हैं। जहाँ तक सूर्य का प्रकाश जल में प्रवेश कर पाता है, जलीय जीव उस गहराई तक सर्वाधिक जीवनीय तत्त्व का सम्भरण कर पाते

पृथिवी पर विद्यमान विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों, जीवों एवं पौधों को भी अपने अंकुरण वृद्धि तथा अन्य जीवनीय क्रिया के लिए विशेष तापमान की निरन्तर आवश्यकता होती है। समस्त जीव तथा मनुष्य का जीवन इन पौधों तथा अन्न पर निर्भर रहता है। इसीलिए एक मंत्र में सूर्य के लिए कहा गया है कि वे निर्निमेष नेत्रों से हलवाहों को देखते रहते हैं तथा उन्हें अपने कर्म में प्रवृत्त करते हैं। (*ऋग्वेद*, 7.60.7) कृषकों से हमें अन्न प्राप्त होता है। सूर्य के द्वारा उद्धत किए जाने पर मनुष्य अपने-अपने कार्यों पूरा करने में लग जाते हैं।

उद्वेतिसुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नानि कृणवन्नपांसि।। (*ऋग्वेद*, 7.63.1,4)

श्रीमद्भगवद्गीता में सूर्य की महत्ता को उद्भासित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना स्वरूप बताया है—**आदित्यानायमहं विष्णुः ज्योतिषां रविरंशुमान।**

जल और औषधियों के कारणभूत सूर्य हैं- **दिव्या सुपणं वायसं बृहन्तमपां गर्भ दर्शतमोषधीनाम।।** जल में, औषधि में और सूर्य में विनाशक शक्ति है। औषधियों में सूर्य की किरणें शक्ति पैदा करती हैं। सूर्य से वनस्पतियों को मधुर बनाने की प्रार्थना की गई है—

मधुमान्नो वनस्पतिर्माधुमां सूर्यः ।

औषधियाँ मधुर रस वर्षक होती हैं—**माध्वी नः सन्त्वोषधीः।** वह जल जिसके कारण सूर्य हैं उन जलों में अमृत है, औषधि है—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्ते।

सूर्य का देवत्व अथवा सूर्यत्व ही उनकी महिमा को द्योतित करता है जो *निरुक्त* के टीकाकारों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जिसका आशय है—

उत्सर्पण क्रियावच्छिन्न रूपत्वं सूर्यत्व अथवा उत्सर्पणत्वं सूर्य त्वं।

इस परिभाषित लक्षण द्वारा स्पष्ट है—जो उत्सर्पण-परिक्रमण क्रियाशील हो उसमें यह उत्सर्पण गुणविशेष धर्म हो, उसी धर्म से विशिष्ट को सूर्य कहा गया है। (*निरुक्त* पर टिप्पणी 12.14) *वृहद्देवता* ने इसी वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए सूर्य की व्युत्पत्ति की है।

सूर्यः सरति भूतेषु सु वीरयति तानि वा।
सु ईर्यत्वाय यात्येषु सर्व कार्याणि संदधत (पृ.दे.7.128)

अभिप्राय यह है कि सूर्य प्राणियों के मध्य भली प्रकार विचरण करते हैं। उनके सभी कार्यों को सम्यक रूप से धारण करते हुए ये सूर्य उन्हें भली भांति प्रेरित करने के लिए निरन्तर परिक्रमण करते हैं।

निरुक्तकार यास्क ने सूर्य देवता को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रेरक एवं सर्वकार्य सम्पादक एवं विलक्षण गतिशील माना है। उन्होंने सूर्य का निर्वचन करते हुए कहा है कि—**सूर्यः सर्तेवा सुवते स्वीर्यते । तस्यैषा भवति।** (*निरुक्त,* 12.14) इस यास्कोक्ति के अनुसार स्पष्ट होता है कि 'सू' अथवा 'पू' धातु से सूर्य शब्द की निष्पत्ति सम्भव होती है। भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—**सूर्यः इति व्यक्तव्यम् स पुनरयं भगकालात्सृतः सूर्यो भवति।** इसका अभिप्राय यह है कि उत्सर्पण से पहले भगकाल ऐसी उक्ति से परकाल जो उत्सर्पण क्रिया से युक्त है उसी को उत्सर्पणत्वात् सूर्य कहा गया है। *ईशावास्योपनिषद्* के पंद्रहवें एवं सोलहवें मंत्र में सूर्य के अस्तित्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। (15)
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पष्यामि योऽसावसौ पुरुषःसोऽहमस्मि ।। (16)

हे जगत्पोषक पूषा देवता! स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख्य आवृत है। सत्य धर्म का साक्षात् करने के इच्छुक मेरे लिए आप उसे अनावृत करने की कृपा करें। जगत पोषक, अद्वितीय गमनशील अथवा मुख्य प्रान स्वरूप, सर्वजगन्नियन्ता, प्रजापति के पुत्र सूर्य देवता! आप अपनी रश्मियों को हटाकर समेट लें। सूर्य उपासना करने वाले अपने भक्तों को अभिलषित वस्तु प्रदान करते हैं साथ ही साथ समस्त रोगों का अपहरण कर आरोग्यता प्रदान करते हैं। **आरोग्यं भास्करादिच्छेद्** इस पौराणिक उक्ति के द्वारा यह तथ्य सुपुष्ट होता है।

इस प्रकार सूर्य और उनका विशेषण आदित्य वैदिककाल से पौराणिक काल तक आते-आते परस्पर पर्याय बन गए। द्वादश आदित्यों में चर्चित विष्णु का नारायण नाम तो अधुना सूर्य देवता के ध्यान में समर्पित यह श्लोक इसकी पुष्टि करता है—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्यमयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ।।

अर्थात् सविता देवता सूर्य के मण्डल में खिले कमल के आसन पर बैठे हुए केयूर, किरीट, मकराकृतकुण्डल हार धारण किये हुए, हार के साथ हाथों में शङ्ख चक्र लिये हुए स्वर्ण जैसी देह कान्ति वाले नारायण श्री विष्णु का सर्वदा ध्यान किया जाना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्टतः सूर्य की सत्ता में अन्तर्निहित विष्णु की सत्ता एकमेक प्रमाणित हुई है। लौकिक संस्कृत साहित्य के प्रथम विश्रुत काव्य *वाल्मीकि रामायण* में रावण से निर्णायक युद्ध किए जाने में उतरने से पूर्व अगस्त ऋषि द्वारा भगवान् श्रीराम को उदीयमान् सूर्य की वन्दना के द्वारा शक्ति संचित करने की सम्मति दी गई थी जिसका अनुपालन करते हुए भगवान् श्रीराम ने अत्यन्त श्रद्धाभाव से एकाग्रचित होकर सूर्य देवता की स्तुति एवं वन्दना की। यह स्तोत्र आदित्यहृदय के नाम से विख्यात है। रोग, शोक से मुक्ति तथा जीवन की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले आस्तिकजन निष्ठापूर्वक इसका पाठ करते हैं।

लौकिक साहित्य के प्रख्यात साहित्यकार मयूर कवि ने स्वयं कुष्ठ रोग होने की दशा में भगवान् सूर्य की ही आराधना की। उनके द्वारा रचित *सूर्य शतकम्* न केवल स्तोत्र साहित्य का अपितु समग्र संस्कृत साहित्य में अप्रतिम माना जाता है। विभिन्न उपासकों ने समय-समय पर सूर्य देवता की उपासना से अपनी मनोकामनाएँ प्राप्त की हैं। याज्ञवल्क्य ऋषि ने सूर्योपासना के माध्यम से ही शुक्लयजुवेद का दर्शन किया। श्री हनुमान जी ने सूर्य देवता की उपासना से ही समस्त विद्याएँ प्राप्त की। विभिन्न ऋषियों महर्षियों ने समय-समय पर सूर्य की उपासना के माध्यम से विभिन्न प्रकार के तेज प्राप्त किए। महाभारत काल में ज्येष्ठ पाण्डव धर्मराज युधिष्ठिर को सूर्य देवता की आराधना से ही एक ऐसे अक्षय पात्र की उपलब्धि हुई थी जो कभी रिक्त होता ही नहीं था। एक अन्य महाभारत कालीन कथा के अनुसार यादव कुल के सत्राजित को सूर्य देवता की कृपा से स्यमंतक नाम की अद्भुत मणि प्राप्त हुई थी जो उन्हें आराधना करने के बाद प्रतिदिन कई मन स्वर्णादि धन दिया करती थी। इसप्रकार पैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक सूर्य देवता का वैशिष्ट्य स्वयमेव प्रमाणित है।

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी।
चलवाणी—7376016995